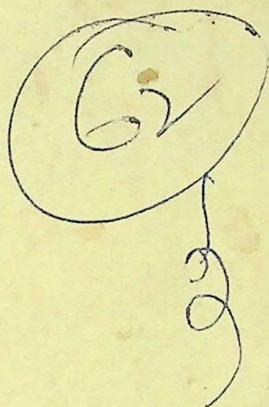
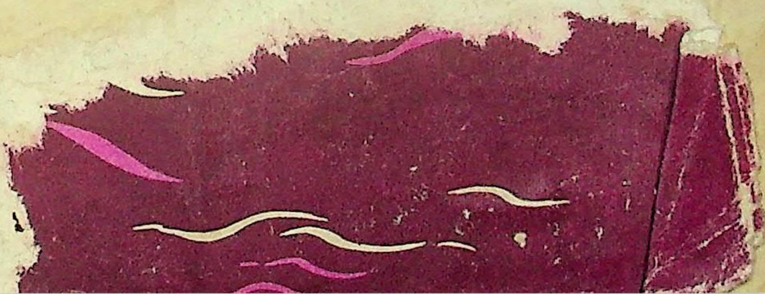




इस अंक में देखिये

राष्ट्रपति से साहित्यिक इण्टरव्यू

गौरीशंकर शृंग की प्रेमकहानी

महर्षि रमण का दर्शन

जानी, सुनी, देखी

आलोचना के नाम पर

डायरी के पन्ने

कोणार्क
(नाटक)

द्विवेदीजी और प्रेमचन्द के दुर्लभ पत्र

१९४९ की सबसे प्यारी कवितायें

फ्रेंच कलाकार : आन्द्रे ज़ीद

पूर्व का इटालियन : तेलुगु

और

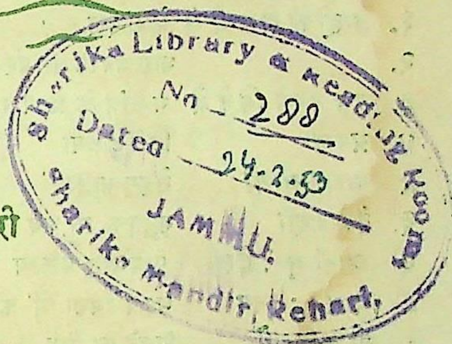
नौ कवितायें

द्विज, प्रभात, दिनकर, जानकीवल्लभ,

रुद्र, नारायण, कन्हैया, राम-

सँजीवन, किशोर !





मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

सहकारी सम्पादक

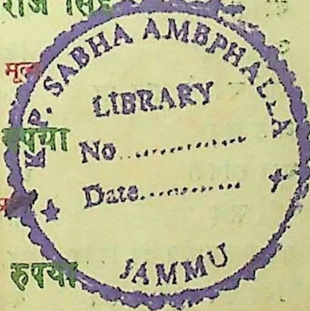
श्री वीरेन्द्र नारायण

चित्रकार

मुहम्मद इस्माइल

प्रबंध सम्पादक

श्री उदयराज सिंह



वार्षिक मूल

दस रुपया

एक प्र

एक रुपया

अशोक प्रेस

महेन्द्रू, पटना

नई धारा

वर्ष १ | रामनवमी, २००७ | अङ्क १

अप्रैल, १९५०

अनुक्रमणिका

क्रम	स्थायी शीर्षक	लेखशीर्षक	लेखक	पृष्ठ
१.	उन्हीं की लेखनी से	आशीर्वाद	श्री मैथिलीशरण गुप्त	३
२.		धारा जब कि धरा पर आती	श्री प्रभाकर माचवे	४
३.	हम इनसे मिले थे	गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	५
४	भ्रमण	डिरी डोलमा	डा० सत्यनारायण	१२
५.	भारत भारती	तेलुगु-साहित्य	प्रो० वारणासि राममूर्ति 'रेणु'	२३
६.	वेद-वाणी	मधुसूक्त, मा भय		३०
७.	जानी सुनी देखी	पूरब और पच्छिम	राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह	३१
८	चिन्तन : मनन	महर्षि रमणः 'मैं' की खोज	श्री साँवलियाबिहारीलाल वर्मा	३६
९.	नौ कवितायें	पिंजरे का पंछी	द्विज	५०
		कैकेयी	प्रभात	५१
		शबनम की जंजीर	दिनकर	५२
		गोमुखी	श्री जानकी वल्लभ शास्त्री	५४
		शब्द-वेध	रुद्र	५६
		कवि की चिन्ता है चिरनवीन	नारायण	६०
		अकेला पंछी	कन्हैया	६१
		कल्पना और रूप	रामसंजीवन	६२
		ज्वार-भाटा	किशोर	६३
१०.	समीक्षा	आलोचना के नाम पर	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	६५
११.	डायरी के पन्ने	आठ दिन	श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी'	७७
१२.	कोणार्क	भग्न रागिनी	श्री जगदीशचन्द्र माथुर	८१
१३.	विश्व-भारती	आंद्रे ज़ीद	प्रो० नलिन विलोचन शर्मा	९६
१४.	आपकी चिट्ठी	सर्वश्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्विज, बनारसी दास, वियोगी, बच्चन		१०१
१५.	सबसे प्यारी कृतियाँ	प्रिय शेष बहुत है रात	बच्चन	१०५
		प्यार न बाँधा जाये	भवानी प्रसाद तिवारी	१०६
१६	पत्रांजलि	दो महत्वपूर्ण पत्र	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	१०७
१७	हमें यह कहना है		सम्पादकीय	११२

श्रीराम

चिरगाँव (झाँसी)
६-११-२००६

प्रिय बेनीपुरीजी,

आपका कृपा पत्र पहुँचा। प्रसन्नता हुई। आपके नये उद्योग की सफलता चाहता हूँ। परन्तु मेरे लिए कठिनाई यह है कि अब बहुत थोड़ा लिख पढ़ पाता हूँ। मानसिक परिश्रम करते ही थक-सा जाता हूँ। फिर भी आपके इस आयोजन में मेरी शुभकामना तो है ही। लीजिए—

किसलिए, अरे, ओ कविकुल, यह अकर्मण्यता की कारा?
कह, कब तक नीरस कूपों का वह जल भी जो है खारा?
उठ पृथिवी के पुत्र, स्वर्ग का अमृत जाय तुझ पर वारा;
खोल अभय निज मानस का मुख, निकले स्वयं नई धारा!

आप सानन्द होंगे।

भवदीय
मैथिलीशरण

धारा जब कि धरा पर आती तभी कहाती गंगा !

श्री प्रभाकर माचवे

यह धारा नई है और फिर भी यह नई नहीं है।

यह बहुत पुरातन काल से चली आ रही है, जब उपनिषत्कार ने 'संगच्छध्वं संगद्धध्वं' का मन्त्रोच्चार किया था; जब वेद में 'अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्' कहकर वाणी की प्रशस्ति की गई थी।

यह धारा वही है जिसने सिद्धार्थ को बोधि-ज्ञान का जीवन-सन्देश दिया; जिसके कारण यज्ञों में मारे जानेवाले निरीह पशु फिर जो गये।

यह धारा वही है कि जिसके बल पर युग-युग में विद्रोही मुस्कुराते हुए जहर पी गये, सूली चूमते रहे और सीने पर गोलियाँ खाते रहे।

यह धारा नवजीवन, नवोत्साह और नवचेतना की धारा है।

इसलिए यह धारा पुरानी है, फिर भी यह पुरानी नहीं है।

यह धारा नई है, फिर भी युग-युग से पहिचानी हुई है।

यह धारा सबकी है और फिर भी सबकी नहीं है।

इसमें व्यक्ति को लकड़ी का गठ्ठा नहीं माना जाता जो सब एक-से बंधे जायँ और कलाकारों को भी वर्दी पहिननी पड़े।

इसमें किसी फ्यूहरेर या कमिसार की स्तुति में लेखक स्तोत्र नहीं लिखते।

इसमें आचार, विचार और उच्चार की स्वाधीनता है।

क्योंकि व्यक्ति स्वतंत्र है तो समाज स्वतन्त्र है। व्यक्ति की विद्रोहेच्छा के आड़े कोई रूढ़ि, कोई नियम, कोई दंड-विधान नहीं आते, यही इतिहास सिखाता है।

यहाँ व्यक्ति इतिहास बनाता है; इतिहास व्यक्ति को जबर्दस्ती नहीं गढ़ता।

यह धारा इसीसे एक की नहीं है फिर भी हरएक की है।

इस धारा का मूल स्रोत जन-मन में है : इस धारा का मूल उत्स जन-गण-मन है।

यह धारा जब क्रुद्ध होती है तो यह बाढ़ बनकर किनारे की बस्तियाँ और खेती उजाड़ कर देती है। और यह धारा जब प्रेम करती है तो दोनों किनारे हरेभरे कर देती है।

यह धारा जब वैज्ञानिक ढंग से बँध जाती है, तो विद्युत् निर्माण करती है, नहीं तो जबर्दस्ती उसे रोकने पर सड़ाँध-सिवार भी पैदा होता है।

इस तरह से यह धारा उर्वरा वसुन्धरा की साथिन है, यह पनचक्कियों की शक्ति है यह अंततः विश्वबंधुता के महासागर से जाकर मिलेगी।

यह धारा जिस गगरी में, पात्र में भरेगी, वैसा ही आकार ग्रहण करेगी।

क्योंकि इस धारा का मूलस्रोत जन-जन है।

"मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में ही सम्मिलित हुआ था। यही नहीं, बल्कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जैसी कोई संस्था कायम की जाय, इसके लिए मैंने थोड़ा-बहुत आन्दोलन भी चलाया था और इसके लिए पत्रों में लेख भी लिखे थे।"

• हम इनसे मिले थे •

भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति

श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर'

बिहार में हमारी पीढ़ी के लोग भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी के सुयश की कहानियाँ सुनते-सुनते पले और बढ़कर जवान हुए हैं। प्रान्त के जीवन पर ज्यों-ज्यों वे छाते गये, त्यों-त्यों उनकी छाया हम सभी लोगों की जिन्दगी पर पड़ती गई और हम सभी लोग मन की निर्मलता के समय छोटे-छोटे राजेन्द्र प्रसाद बनने की कामना से उद्वेलित रहे हैं। व्यवहार में मनुष्य क्या बन पाता है, सब से बड़ी बात तो यही है; किन्तु, मन की कामना भी विशेषता रखती है ; क्योंकि यह कामना हमारे जीवन की दिशा निर्धारित करती है तथा हमें व्यक्ति-विशेष का अनुगमन करने को भी प्रेरित करती है। पहले राजेन्द्र बाबू हमारे मनों में आये और तब उन्होंने हमें अपने पीछे लगा लिया। फिर बहुत-सी जिज्ञासाओं का समाधान भी हमें उनके व्यक्तित्व में मिला। देशभक्त कैसा होता है? मन ने कहा, राजेन्द्रप्रसाद के समान। गाँधीजी का अनुसरण कैसे करना

चाहिए ? आँखों ने कहा—जैसे राजेन्द्र प्रसाद कर रहे हैं। एक यह भी शंका थी कि उस युग में उच्च से उच्च कोटि की बौद्धिकता को लेकर भी निपट देहातियों के बीच अपने को कैसे खपाया जा सकता है ? उस विचित्र शंका का भी उचित समाधान हमें राजेन्द्र बाबू के ही व्यक्तित्व में मिला। अब तो श्रद्धा इतनी घनी हो गई है कि लोग उनका नाम न लेकर उन्हें सिर्फ 'बाबू' कहकर पुकारते हैं।

बाबू के सान्निध्य में मैं प्रथम-प्रथम सन् १९३५ में आया जिस साल बाबू भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। उसी दिन मैंने उन्हें अपनी कविताएँ भी सुनाईं। मैंने देखा कि कविताओं की कई कण्डिकाएँ सुनते उनकी आत्मा आन्दोलित हो गई और उनकी आँखों से आँसू निकल आये। अवश्य ही, यह विचलन कविता की बेधकता की अपेक्षा उनकी देशभक्ति-सम्बन्धी स्वानुभूति का ही परिणाम रहा होगा, किन्तु जिस आदर और मनोयोग के साथ उन्होंने मेरी तुकबन्दी को सुना, उससे मुझे बड़ा ही उत्साह मिला और तब से मैं बराबर, अवसर मिलने पर, उन्हें अपनी रचनाएँ सुनाता रहा हूँ।

बाबू के साहित्यिक व्यक्तित्व से लिपटने का एक कारण यह भी था कि हिन्दी-प्रान्तों के चोटी के राजनीतिज्ञों में टंडनजी को छोड़ कर वे ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति और विकास को देश के सर्वांगीण विकास से मिलाकर देखते थे और जिन्हें यह जानने की इच्छा थी कि हिन्दी में कहाँ क्या हो रहा है ? उनका साहित्यानुराग केवल अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अथवा प्रान्तीय सम्मेलनों के सभापतित्व तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि वे लेखकों और कवियों के वैयक्तिक संपर्क में भी रहे हैं और जबतब उन्होंने सभा-सम्मेलनों का भी साथ दिया है।

कहते हैं, सर तेज बहादुर सप्रू और जस्टिस सुलेमान-जैसे बड़े आदमी भी जब मुशायरों में जाते थे, तब वे वहाँ काफी देर तक बैठकर कविताओं का रस लेते थे और इस प्रकार आयोजकों को यह महसूस करने का मौका देते थे कि वे जिस काम को कर रहे हैं वह बड़ा ही ऊँचा सांस्कृतिक काम है। किन्तु, लगभग चार सौ साहित्य-सम्मेलनों और कवि-सम्मेलनों में भाग लेने के बाद भी दुर्भाग्यवश मैं यह नहीं कह सकता कि

हिन्दी-प्रान्तों के तगड़े लोग साहित्य या कवि सम्मेलनों के सांस्कृतिक महत्व से जरा भी प्रभावित हैं अथवा उन्होंने कभी भी अपने व्यक्तित्व के आलोक से साहित्य-सम्मेलनों की शोभा बढ़ाई है। हाँ, पूज्यवर राजेन्द्र बाबू इसके अपवाद जरूर हैं, क्योंकि उन्हें मैंने साहित्य-सम्मेलन ही नहीं, कवि-सम्मेलनों में भी यदा कदा सम्मिलित होते देखा है और वे जब भी वहाँ गये हैं, उन्होंने सभी तरह के कवियों की रचनाओं को एक समान धीरता और मनोयोग से सुना है।

हिन्दी में राजनीति और साहित्य के बीच एक खाई है जो दिन-दिन चौड़ी होती जा रही है। राजनीति के लोग साहित्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, मानों यह कोई चीज ही नहीं हो, मानों साहित्य की उपेक्षा से उनका या देश का नुकसान नहीं होता हो! किन्तु, साहित्य बलवान् तो है ही, और उसके झरने में पानी पीना अगर आपके लिए ग्लानि की बात है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका पानी सड़ रहा है और लोग उसे पी नहीं रहे हैं।

राजेन्द्र बाबू की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि वे साहित्य-रचना को भी देश के नवनिर्माण का अंग मानते हैं और साहित्यिकों को समुचित आदर देकर वे साहित्य के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं। अन्य नेताओं के समान अंगरेजी के प्रगाढ़ पंडित होते हुए भी वे आरम्भ से ही हिन्दी के प्रबल समर्थक और अनुरागी रहे हैं। आज से कोई तीस वर्ष पूर्व उन्होंने पटना में "देश" नामक हिन्दी-साप्ताहिक की स्थापना की थी और तब से भाषा के प्रश्न पर सुझाव देकर, साहित्य-सम्मेलनों का सभापतित्व करके तथा ग्रन्थों की रचना के द्वारा वे हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा करते ही आ रहे हैं। उनकी लिखी—१. 'चम्पारन में गांधीजी', २. 'संस्कृत का अध्ययन', ३. 'आत्मकथा' और ४. 'बापू के कदमों में'—ये चार पुस्तकें हिन्दी की अक्षय निधि हैं। विधान-परिषद की समाप्ति पर अपना विचार प्रकट करते हुए उन्होंने अपनी जिन दो वेदनाओं का जिक्र किया, उनमें से एक यह थी कि भारतीय गण-तंत्र का विधान मौलिक रूप से हिन्दी में नहीं लिखा जा सका!

उनकी अन्य हिन्दी-सेवाओं की तरह उनके इस वेधक वाक्य ने भी हिन्दीभाषी जनता का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया और तब से कितने

ही लोग अपने-आपसे आँख चुराये हुए यह सोच रहे हैं कि हमने अबोहर-सम्मेलन के समय जिसको हिन्दी-विरोधी कहा था, क्या यह वही पुरुष है?

राजेन्द्र बाबू का साहित्यिक व्यक्तित्व जनता से छिपा नहीं है, फिर भी, एक दिन, उनके राष्ट्रपति हो जाने के बाद, मैंने जानबूझकर उनसे इसलिए मुलाकात की कि इस सम्बन्ध की कुछ और हल्की-फुल्की बातें जनता को मालूम हो जायँ।

ऐसा संयोग कि मैं और सुप्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक श्री फूलन प्रसाद जी वर्मा साथ ही बुलाये गये। जब फूलन जी दो चार मिनट तक बातें कर चुके, तब मैंने यह कहते हुए अपना काम शुरू किया—"बाबू! आज मैं आपका साहित्यिक इण्टरव्यू लेने आया हूँ और सारे प्रश्न मैंने पहले से ही लिख रखे हैं।"

बाबू ने चौंक कर कहा—"साहित्यिक इण्टरव्यू के क्या मानी? मैं कोई साहित्यिक थोड़े ही हूँ!"

मैंने कहा—"आप ऐसा ही समझें, किन्तु हमारा आग्रह भी तो कोई वस्तु है।" और मैंने झट पहला प्रश्न कर दिया—"आप अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में पहले-पहल कब सम्मिलित हुए थे?"

बाबू बोले—"पहले ही अधिवेशन में। यही नहीं, बल्कि, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-जैसी कोई संस्था कायम की जाय, इसके लिए मैंने थोड़ा-बहुत आन्दोलन भी चलाया था और उसके लिए पत्रों में लेख भी लिखे थे। किन्तु अब याद नहीं कि वे लेख कहाँ छपे थे। मुझमें यह विचार वंगीय साहित्य-परिषद् को देखकर उठा था जो संस्था उन दिनों काफी कार्यशील थी।"

मैंने दूसरा प्रश्न यह पूछा कि जब आप छात्र थे उस समय हिन्दी में किन कवियों की कविताएँ आदर से पढ़ी जाती थीं।

राजेन्द्र बाबू ने कहा—"हिन्दी में उस समय भारतेन्दु बाबू की रचनाओं की धूम थी और उनकी कविताओं के आगे बहुतों के दोहे-सवैये फीके पड़ रहे थे। अपने छात्र-जीवन में हमलोग देवीप्रसाद "पूर्ण" और श्रीधर पाठकजी की कविताओं को भी बड़े ही चाव से पढ़ते थे। आगे चलकर नवयुवक कवि श्री मैथिलीशरण जी आये और उनकी रचनाएँ भी आरम्भ से ही लोकप्रियता प्राप्त करने लगीं।"

मैंने फिर पूछा कि हिन्दी के प्राचीन

कवियों में आपको अधिक प्रिय कौन लोग रहे हैं।

उन्होंने आशानुरूप उत्तर दिया—"तुलसीदासजी पर शुरू में ही जो भक्ति बैठी, वह आज भी ज्यों की त्यों है, बल्कि, दिन-दिन उनकी कविता मेरे लिए नवीन होती गई है। उनके सिवा, सूरदास की कविताओं से भी मैं विह्वल हो जाता हूँ तथा वे मेरे हृदय को बड़े जोर से छूती हैं। इन दोनों के बाद मीरा और कबीर का स्थान आता है। तब भी तुलसीदास की रचनाएँ मैंने सब से पहले पढ़ी थीं और आज भी उन्हें पढ़ता रहता हूँ।"

विषय का दायरा बढ़ाने के उद्देश्य से मैंने सवाल किया कि अंगरेजी और उर्दू के किन कवियों पर आपका विशेष स्नेह है।

वे बोले—"मैंने इन कवियों का विधिवत् अध्ययन नहीं किया है; जहां-तहां से कुछ थोड़ा-बहुत देख-भर गया हूँ। तो भी उर्दू के कवि मियाँ नजीर अकबराबादी की कई चीजें मुझे बेहद पसन्द हैं।"

छायावादी आन्दोलन पर पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि मैंने उस आन्दोलन की चर्चा दूर से ही सुनी थी; नजदीक से उसे देखने या समझने का मौका मुझे नहीं मिला। अतएव, उसके संबन्ध में मैं अपना कोई मत नहीं दे सकता।

हिन्दी और उर्दू के जीवित समकालीन कवियों के संबन्ध में जिज्ञासा करने पर उन्होंने कहा कि नाम तो मैंने कइयों के सुने हैं और उनकी छिटपुट रचनाएँ भी देखी हैं, किन्तु, उनके संग्रह-विशेष को ठीक से देखने का मुझे अवसर नहीं मिला। हां, बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त की "भारत-भारती" की याद मुझमें अब भी बनी है।

मैंने फिर पूछा कि आपने हिन्दी में सब से पहले क्या लिखा था?

उन्होंने कहा—"सबसे पहले मैंने कुछ स्फुट लेख लिखे थे जो उस समय के कई पत्रों में प्रकाशित हुए थे। बिहारी-छात्र-सम्मेलन की ओर से हमलोग 'यंग बिहार' नामक एक मासिक पत्र निकाला करते थे जिसमें हिन्दी और अँगरेजी की मिली-जुली रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। संभवतः, मेरा पहला हिन्दी-लेख 'यंग बिहार' में ही छपा था। किन्तु, ठीक नहीं कह सकता कि मेरा पहला लेख कहाँ छपा—क्योंकि उन्हीं दिनों में पंडित पद्मसिंह जी शर्मा के 'भारतोदय' और पंडित जीवानन्दजी शर्मा की 'कमला' में भी लेख लिखने

लगा था। पंडित पद्मसिंह जी शर्मा का 'भारतोदय' ज्वालापुर-महाविद्यालय से निकलता था और 'कमला' कलकत्ता से। पीछे चल कर 'कमला' भागलपुर से निकलने लगी।"

अब बात राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा के बारे में चली। यह तो मैं जानता ही था कि 'आत्मकथा' की रचना के समय राजेन्द्र बाबू के पास न तो कोई डायरी थी और न चिट्ठियों की फाइल; न अखबारों की कतरन थी और न कांग्रेस की प्रस्ताव-पुस्तिका। 'आत्मकथा' में एक तरह से भारतवर्ष के चालीस वर्षों का राजनीतिक इतिहास ही लिपिबद्ध हुआ है, किन्तु, इस विशालकाय ग्रन्थ को उन्होंने सिर्फ अपनी स्मृति से ही लिख डाला। लेकिन, मुझे यह जान कर और भी आश्चर्य हुआ कि कोई १५०० पृष्ठों की विशाल पांडुलिपि उन्होंने अपने ही हाथों से तैयार की; कहीं भी कोई डिक्टेशन नहीं दिया। यह भी उनकी धीरता और अध्यवसाय का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

फिर, मानों, मुझे आश्चर्य-चकित देख कर उन्होंने कहा—"लेकिन, 'बापू के कदमों' का एक पृष्ठ भी मैंने अपने हाथ से नहीं लिखा है। उसकी पांडुलिपि सिर्फ डिक्टेशन से तैयार हुई है।"

मेरा एक प्रश्न था—"आप कब लिखते हैं? दिन में या रात में?"

उन्होंने कहा, "कोई ठीक नहीं। जब समय मिल जाता है, कुछ लिख लेता हूँ।"

मेरे यह पूछने पर कि आप पेन्सिल से लिखना पसन्द करते हैं या कलम से, बाबू ने कहा कि पेन्सिल से तो भरसक मैं लिखता ही नहीं। मैं जो कुछ भी लिखता हूँ, कलम से ही लिखता हूँ।

मेरा एक सवाल यह भी था कि अपनी चारों पुस्तकों में से खुद आपको कौन पसन्द है।

उन्होंने कहा—"लिखने के बाद मुझे पुस्तकों को पढ़ने का अवकाश नहीं मिला है। यह तो आपलोग ही बता सकते हैं कि कौन किताब कैसी हुई है।"

मैंने निवेदन किया—"आत्मकथा विशाल है। किन्तु, 'बापू के कदमों में' महान् है और वह जनता को कहीं अधिक प्रभावित करेगा।"

मेरा अन्तिम प्रश्न था कि आगे आप क्या लिखने का विचार कर रहे हैं।

बाबू बोले—"अभी तो कोई योजना सामने नहीं है।"

प्रसंगवश, फूलन जी ने बाबू के सामने ही उनकी शैली की सरलता की चर्चा छेड़ दी और मुझे कहा कि जेल में राजेन्द्र बाबू ने अपनी शैली की व्याख्या करते हुए कहा था कि मैं न तो संस्कृत का पंडित हूँ और न फ़ारसी का विद्वान्; ऐसी हालत में मैं जो कुछ लिखूँगा वह आसान छोड़ कर और क्या होगा। इस विनयशीलता पर चकित होना व्यर्थ है, क्योंकि यह तो राजेन्द्र बाबू की गिनी-चुनी विशेषताओं में से एक है।

जब हम बाहर निकले, फूलन जी ने एक बात कही। जेल में जब 'आत्मकथा' समाप्तप्राय थी, एक दिन राजेन्द्र बाबू ने फूलन जी से पूछा कि तुम्हें यह रचना कैसी लगती है। फूलन जी ने कहा कि यह एक संयमी योद्धा की जीवनी है, किन्तु, इसमें कला के गुणों का अभाव है।

मेरे एक और मित्र (पं० शान्तिप्रियजी द्विवेदी) ने एक दिन बातों के सिलसिले में मुझसे कहा था— "राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा गाँव की नदी बन कर आई है। वह गाँववालों की आवश्यकता को पूरी करती हुई बहती जा रही है, किन्तु, उसमें उद्वेग का अभाव है।"

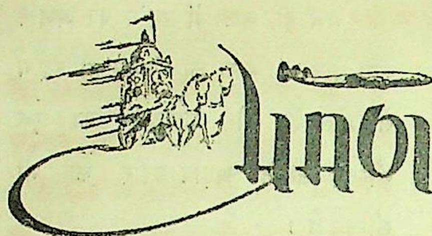
सच ही, कला में उद्वेग का अभाव नहीं होता। कला का जन्म ही उद्वेग से होता है और कलाकृति का एक सौन्दर्य उसके चढ़ाव-उतार का भी सौन्दर्य है।

किन्तु, क्या राजेन्द्र बाबू कभी उद्वेग से होकर नहीं गुजरे हैं? फिर उनकी रचना में उद्वेग अनुपस्थित क्यों है?

श्री फूलनजी ने इसका राज़ खोला—

कला के उत्कर्ष की एक शर्त यह भी है कि कलाकार आन्तरिक द्वन्द्व से होकर गुजरे। किसी भी बड़े काम के सामने आने पर मनुष्य एक प्रकार के संकट में पड़ जाता है। उस संकट की वेदना भोगने से कलाकार की कृति में विह्वलता उत्पन्न होती है जो सभी महान् कलाओं की जान है। किन्तु, राजेन्द्र बाबू संकटों को पार करते हुए भी उनकी टीस से अपरिचित रहे हैं। वर्षा में जो आर्द्रता, जाड़े में जो ठंढक और गर्मी में जो ताप है उसे तितिक्षु नहीं जानता; क्योंकि उसका मन नियंत्रित और चर्म कड़ा होता है। राजेन्द्र बाबू जब संकटों का मुकाबला करने निकले थे तब अपनी नाव जला कर निकले थे, जिसका परि-

(शेष पृष्ठ ९८ पर)



> "मेरी आँखों के सामने था–गौरीशंकर का वही श्रृंग। इस समय भी उसने अपनी बाँहें दो चोटियों के कंधों पर फैला रखी थीं। वे दोनों माँ-बेटी-सी दीखती थीं। उन्हें पहचानने में मैं भूल नहीं कर सकता था। वहाँ दाहिनी ओर वाली ही थी––मेरी डिरी डोलमा!"

डिरी डोलमा

डा० सत्यनारायण

सामने है गौरीशंकर का श्रृङ्ग! अपने अगल-बगल की दो चोटियों के कंधों पर अपनी बाहें फैलाए वह मेरी ही ओर देख रहा है। मेरे और उसके बीच इस समय कोई रुकावट नहीं है। मुझे मालूम पड़ता है जैसे एक छलांग में ही मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा।

मैं ऐसी छलांग लगाने से कैसे बाज आ सकता था?

पर उस ऊँचाई पर मैं नहीं पहुँच सका। जा गिरा बहुत नीचे के एक खड्ड में, गौरीशंकर के तलवे के पास।

यहाँ घना जंगल है। इतना घना कि बहुत-से स्थानों पर सूर्य की रोशनी तक नहीं पहुँच पाती। दिन में ही अँधेरा-सा छाए रहता है।

इस अंधकार में रास्ता भूल जाना स्वाभाविक ही है। पता नहीं, मैं कितनी देर से इस जंगल के पार निकल जाने की कोशिश कर रहा था, पर बार-बार विफल होता था। फिर-फिर लौट कर एक ही वृक्ष के नीचे जा पहुँचता था।

आखिर मैं थक कर बैठ गया। मेरी आँखों के सामने घने जंगल ने पट्टी-सी लगा रखी थी। गौरीशंकर का श्रृंग तो दूर रहा, यहाँ से एक टीला भी नहीं दिखाई देता था। मैं इस नतीजे पर पहुँचने ही वाला था कि 'अब बस…'।

इसी समय एक गाना सुनाई देने लगा। सुर भोटिया लोगों-जैसा था, जिस में सात के बदले पाँच ही स्वर हुआ करते हैं। पर भाषा नेपाली थी––

"हिमालय चुलित्यो पल्लो पटि पर्वतै शीला छ…"

इस गाने की आवाज ने पथ-प्रदर्शक का काम किया। जिधर से आवाज

आ रही थी, मैं उसी ओर आगे बढ़ा। एक स्थान पर कँटीले झाड़ों ने मेरा रास्ता रोक रखा था। उन्हें पार करते समय मेरे शरीर के कपड़े चीथड़े भले ही हो गए, पर मैं उस जंगल के बाहर निकल आया।

सामने का दृश्य अनोखा था। शायद देवताओं की ही आँखें वहाँ झाँकी लगाया करती होंगी।

हवा ठंडी और बड़ी तेज। एक-एक झोंका तलवार की धार-सा। अपने चेहरे पर उसकी चोट बचाने की कोशिश करता हुआ मैं आगे बढ़ रहा हूँ।

मेरी आँखों के सामने का पट खुल गया है। सामने है एक पहाड़ी, गौरीशंकर के पाँवपोश की तरह। उसी की चोटी पर बैठी वह लड़की गा रही है।

पास जाने पर देखा, उसके बदन पर काले रंग का अलखला है—जैसा भोटिया औरतें बाँधा करती हैं। उसके लंबे लंबे बाल दो लटों में गुँथे पीछे की ओर झूल रहे हैं।

चेहरे का काट तिब्बती है, फिर भी नाक लंबी और नुकीली। होंठ, पान के आकार के, पतले हैं। गालों का रंग टभकते सेव-सा है। आंखें मंगोलियन काट की—मेरे लिए कुछ अजीब-सी।

मुझे अपने सामने खड़ा देख उसे आश्चर्य नहीं हुआ। उस समय शायद मेरे चेहरे से ही भूख टपक रही थी। वह यह समझ गई। अपनी छाती से उसने रोटी-जैसी एक चीज निकाली। बिना कुछ कहे उसने मेरी ओर बढ़ा दी। मैं खाने लगा।

उसने आकाश की ओर देखा। गौरीशंकर सफेद बादलों के बीच छिप रहा था। उस तरफ के आकाश में एक छोटी-सी खिड़की एक क्षण के लिए बन गई जिसके बीच उसका प्रमुख शृंग एक बार झाँक उठा। फिर उस ओर नीलेपन के भीतर कुछ काला-काला-सा दीखने लगा। यह अवश्य ही तूफान आने के लक्षण थे।

सहसा लड़की के अंग फड़क उठे। उसने मेरी ओर देखा। शायद कुछ रहम-सा हुआ। बोली—'चलो, मेरे साथ!'

उसकी आवाज में भी प्रकृति-जैसी ही स्वच्छता थी। मेरे कुछ भी सोचने की जरूरत न थी।

मैं उसके साथ चल दिया।

आँधी पानी ने हमें रास्ते में ही आ घेरा। बौछार जैसे-जैसे तेज होती जा रही थी वैसे ही वैसे उसका चेहरा खिलता जा रहा था। बिजली चमकने

पर वह खिलखिलाकर हँस पड़ती। जब कड़कने की आवाज आती तो वह उत्साह से तालियाँ पीटने लगती। कुछ दूर आगे बढ़ने पर जब उसे झरना उछलता-फाँदता दिखाई दिया तो वह नाचने लगी। आगे जब उसे पानी की धारा मिली तो वह उसकी नकल करने लगी। उसने पहले गुनगुन की आवाज में उसके साथ अपना सुर मिलाया और फिर उसीके ताल-सुर में गाने भी लगी।

रास्ते भर वह अपनी ही धुन में मस्त रही। सिर्फ एकबार उसका खयाल मेरी ओर गया। मुझे मौन देख शायद उसे कुछ आश्चर्य-सा हुआ। उसने मेरा दाहिना हाथ खींच नृत्य के ताल में उसे घुमाते हुए अपनी पहाड़ी बोली में कुछ कहा। मैं उसके शब्द नहीं समझ पाया, पर भाव स्पष्ट था—'मौन क्यों? यही तो मौज करने का समय है! इससे बढ़कर भी क्या और कोई अच्छा समय मस्ती का आ सकता है?'

हमलोग एक विहार के सामने आ खड़े हुए। वह काठ का बना था। उसकी दीवारें हवा के जोर से थर-थर काँप रही थीं। झोंके के आने पर उसके दरवाजों और खिड़कियों के दाँत कट-कटाने लगते थे।

हमारे वहाँ पहुँचते न पहुँचते एक जोरों का झकोरा आया। उसके वेग से दरवाजे पटापट खुल गए। मेरी संगिनी खिलखिलाकर हँस पड़ी।

हमलोगों ने विहार में प्रवेश किया। जब हम बरामदे में थे, भीतर के कमरे में गूँजनेवाली आवाज सुनाई देने लगी—'ॐमणे पद्महम्! ॐमणे पद्महम्!'

जप एक खास लय में चल रहा था। बाहर की वर्षा तथा आँधी से इसकी बड़ी अच्छी संगति मिल रही थी। इसकी ध्वनि के दरवाजे पर के वृक्ष से टकराने पर एक क्षीण आवाज में उसकी प्रति-ध्वनि-सी सुनाई देती थी। लगता था, मानों कितने ही भिक्षु एकसाथ जप कर रहे हों।

विहार के प्रमुख कक्ष में प्रवेश करने पर हमारे ठीक सामने दिखाई पड़ी बुद्ध की एक मूर्ति। मुद्रा थी उनकी अभयदान की। उनकी भी आँखों का काट तिब्बती था। वे इस समय आधी ही खुली थीं।

उस मूर्ति की बाँई ओर गुरु पद्मसंभव और दाहिनी ओर व्रजपाणि की मूर्ति थी। इन सब मूर्तियों के सामने धूप-बत्तियाँ जल रही थीं।

उसी प्रकाश में हमें एक ओर गद्दी पर बैठे एक लामा दिखाई पड़े। वे ही

इस समय वह मंत्र-जाप कर रहे थे जो हमें बरामदे से ही सुनाई पड़ा था।

हमारी आहट पा वे उठ खड़े हुए। आगे आ उन्होंने मेरी संगिनी के सिर पर हाथ रख आशीर्वाद दिया। फिर उनकी दृष्टि मेरी ओर गई। उन्हें कुछ आश्चर्य-सा हुआ। मेरा भींगा चेहरा कुछ फीका पड़ा और भयभीत-सा देख उन्होंने मुझे भगवान बुद्ध की ओर देखने का इशारा किया। मेरी संगिनी इस समय तक उनके आगे माथा टेक चुकी थी। मेरा भी मस्तक बुद्ध भगवान के पांवों के पास जा टिका।

भगवान के हाथ मेरे सिर पर फिरते और मुझे अभयदान देते-से जान पड़े। 'सांगे (भगवान बुद्ध) सबकी मनोकामना पूरी करते हैं!' लामा मेरे सिर पर हाथ फेर मुझे जगाने की चेष्टा - सी करते हुए कहने लगे—'तुम्हारी भी मनोकामना पूरी होगी।'

मेरी भी कोई मनोकामना है, मैं भूला ही हुआ था। लामा द्वारा जगा दिए जाने पर मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। नजर मेरी जा अँटकी उस लड़की पर जो मुझे वहाँ ले आई थी।

वह इस समय मुझे साक्षात् सौन्दय और माधुर्य से गढ़ी गई दीख रही थी। उसके चेहरे पर अब भी पानी की बूँदें अँटकी हुई थीं। मालूम पड़ता था जैसे उनसे उसने अपना शृंगार ही किया हो। खुशी और आनन्द से उसका चेहरा इस समय भी चमक रहा था। मेरी दृष्टि अपने चेहरे पर गड़ी देख वह मुसकुरा उठी।

'यह क्या वही है?' मैं इस द्विधा में ही था कि मेरा हाथ खींच लामा मुझे बगल के कमरे में ले आए।

उनके हाथ मुझे कुछ कांपते - से जान पड़े।

'वासना—' लामा का स्वर सचमुच कांप रहा था—'वासना पूरी करने की भीख सांगे से कभी भी न मांगना। मैं धोखा खा चुका हूँ। आज भी मैं उसी मुसीबत का मारा भुगत रहा हूँ।'

कमरे में घोर अन्धकार था। काठ की छत पर पानी की बौछारें अजीब अजीब सुर निकाल रही थीं। खिड़की से आने-वाली हवा भी अजीब सिसकारी-सी भर रही थी। लगता था, जैसे वे हमें ही जगा-जगा कर बहुत-सी विस्मृत घटनाओं की याद दिलाने आई हैं।

मुझे थोड़ी थकावट थी, इसी कारण मैंने आँखें भी बन्द कर लीं पर फिर भी सो नहीं सका।

उसी कमरे में लामा की भी चटाई बिछी थी। प्रकृति के झोंके उन्हें वास्तव में ही झकझोर रहे थे। पता नहीं वे अपनी भूल स्वीकार कर रहे थे, अपने ही मन को समझा रहे थे वा प्रार्थना कर रहे थे—उनकी आवाज उस काठ के मकान से भी अधिक काँपने लगी। बुदबुदाते हुए-से वे कह रहे थे—

"उस समय मैं नौ वर्ष का था। भिक्षु के भड़कीले वस्त्र मुझे बड़े अच्छे लगते थे। मेरी इस रुचि का खयाल कर मेरे पिता-माता ने अपने भाइयों में मुझे ही लामा बनवाया।" लामा ने एक आह के ढंग की साँस ली—'रहने लगा मैं गुंबा (बौद्ध विहार) में। पंडित लामाओं से मैंने बहुत से धर्मग्रन्थों की शिक्षा ली। उन दिनों वह शिक्षा मेरे लिए शुष्क नहीं थी।"

"तब मैं जवानी की सीढ़ियों पर चढ़ रहा था। एक दिन काजी (सिक्किम के जमीन्दार) की लड़की विहार में पूजा करवाने आई। मेरी दृष्टि उस पर गड़ गई। उस दिन से मैंने हजार कोशिश की, पर मेरी दृष्टि धर्मग्रन्थों की ओर पहले की भांति एकाग्र न हो पाई। मैंने सांगे के सामने बड़ी प्रार्थना की। सांगे मुझ पर प्रसन्न हुए भी दिखाई दिए। उनसे मैंने अपनी मनोकामना पूरी करने की प्रार्थना की।"

"क्या? वासना की सामग्री?" उन्होंने मुझे सचेत किया।

"हां!" मेरे मुँह से निकला।

"एवमस्तु"

"सांगे की वाणी कभी विफल नहीं होती! अगले दिन ही मुझे एक ग्रंथ की खोज में ऊँचे पहाड़ों में छिपे एक विहार में जाना था। मेरा रास्ता था मिरगिनला (१५००० फु:) होकर। जब मैं एक घाटी पर पहुँचा तो पत्थरों की बौछार-सी होने लगी। सब लोग तितर-बितर हो भाग गए? पर तुरत ही आकाश साफ हुआ। पहली दृष्टि में ही मैं देखता हूँ कि मेरे सामने एक अपूर्व सुन्दरी खड़ी है। मुझे काजी की लड़की याद आई। पर साथ ही यह भी खयाल आया कि जो मेरे सामने खड़ी थी उसके पाँवों की धूल बराबर भी शायद काजी की लड़की न होगी। किसी का सौन्दर्य जब जँचने लगता है तो ऐसा ही जँचता है।"

"वह पत्थरों की आड़ में खड़ी थी। सूर्य की पहली किरणें उन पत्थरों पर पड़ रहीं थीं।—और वे खिले कमल-से दिखाई दे रहे थे। उन खिले कमलों में से ही आविर्भूत हो रही थी वह सुन्दरी।

मेरे मुँह से निकला—

"पेम-लामु ! (कमलिनी !)"

उसने सर हिलाकर कहा—"हाँ ! मैं वही हूँ ।"

"कितने दिनों से मैं तुम्हें ढूँढ़ रहा था !"

"कहाँ ?" उसने व्यंग के स्वर में कहा—"अपने विहार में या धर्मग्रंथों में ?"

"अब मुझे उनकी याद न दिलाओ !" मैंने उससे विनती की—"अब मुझे तुम. . . . ."

"पर एक शर्त है" उसने बीच में ही टोका—"मानोगे ?"

"अवश्य !"

"तुम्हें वचन देना पड़ेगा कि मुझसे अधिक तुम और किसी को भी न चाहोगे !"

"वचन देता हूँ ।" मैंने खुशी-खुशी कहा ।

"ठीक ?"

"हाँ, ठीक ।"

"तब मैं तुम्हारे साथ रहने के लिए तैयार हूँ ।"

"जिस विहार में जाने और जिन पुस्तकों की खोज करने मैं निकला था उनकी बातें मैं भूल गया । घाटी-पार के पहले गाँव में ही हमने डेरा डाला । सुन्दरी मेरे साथ रहने लगी । उसका नाम और भी सुन्दर बनाने के विचार से मैंने कर दिया—'पेलाम' ।"

"अब उसके लिए गहने-कपड़े जुटाने की मुझे चिन्ता हुई । मैं उसे तारा की मूर्त्ति से भी अधिक सजाए रखना चाहता था । मुझे इन बातों के लिए चिन्तित देख उसी ने एक रास्ता बतलाया—"कंचनजंघा शृंग के चारों ओर जो बरफ जमी रहती है उसके नीचे बहुत-से रत्न छिपे हैं, चलो, हम उनमें से कुछ बटोर लाएँ ।"

"मैं उसके साथ निकल पड़ा । क्या बताऊँ मैं उसके पहाड़ों पर चढ़ने की फुर्ती की बात ! ऊंचे पत्थरों पर उसके पाँव मानो उड़ते-उड़ते चल रहे थे । बरफ आ जाने पर तो सचमुच उसके पाँवों में पंख से लग जाते थे ।"

"उसे खोज अधिक नहीं करनी पड़ी । उसने अपने एक परिचित स्थान से बरफ हटाया । निकला उसके भीतर से चमकता हुआ एक हीरा । निखालिस हीरा । इसमें सन्देह नहीं । उसे ले हमलोग घर लौटे ।"

"उस हीरे को सौदागर के हाथ बेंच हमलोग बड़े सुख से रहने लगे । उसी सुखी ज़माने में उसने मुझे एक

और अनमोल रत्न भेंट किया। वह है यही लड़की जो तुम्हें यहाँ ले आई है। यह भी अपनी माँ से कम सुन्दरी नहीं थी, इसीलिए तारा देवी के नाम पर मैंने ने उसका नाम दिया—'डिरी डोलमा'।

"मेरे वे कितने सुखी दिन थे जब वह मेरे घर आई थी। पर वे सुखी दिन अधिक काल तक न रहे। न जाने वह मेरा कौन-सा दुर्भाग्य था जो फिर से घेर लाया काजी की उस लड़की को मेरे सामने। जीवन में पहले पहल उसी ने मेरा मन चंचल किया था। पेलाम को देख मैं उसे भूल-सा ही गया था, पर अब जब वह सामने आई तो मेरा मन फिर पहले दिन की ही भाँति बेकाबू हो उठा। पेलाम को मैंने जो वचन दिया था वह मैं भूल गया। स्त्रियों का सौन्दर्य भी तो बदलता रहता है न! कौन किससे बाजी ले जाएगा, इसका भला किसे पहले से पता चल सकता है?"

"उस काजी की लड़की को मेरे हीरा बेचने की बात मालूम थी। उसने अपनी कीमत बतलाई—उसी ढंग का एक हीरा।"

"मुझे यह कोई बड़ी बात नहीं लगी। मैंने पेलाम को फिर से कंचन-जंघा की बरफ पर चलने के लिए राजी कर लिया। हम जा भी पहुँचे ठीक उस पहले वाली जगह पर। वह हीरा निकालने के लिए बरफ हटाने लगी। बरफ के नीचे से चमकता हीरा भी निकलता दिखाई दिया। उसे निकालते-निकालते उसने कहा—"यह हीरा तो पहले से कहीं अच्छा है। इसे मैं स्वयं पहनूँगी।"

"न" मैंने कहा—"इसे मुझे देना है।"

"किसे? क्या इसके लिए मुझसे भी उपयुक्त और कोई है?"

"वह काजी की........"

"मेरे मुँह से पूरी बात भी न निकल पाई थी कि एक बड़ी आश्चर्य-जनक घटना हुई। अबतक हम दोनों बरफ की जिस एक ही चट्टान पर खड़े थे, उसमें एक दरार पड़ गई। वह मुझ से दूर हटने लगी। मैंने उसे पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया, पर उसे छू न सका। उसने वितृष्णा की एक दृष्टि मेरी ओर फेर कहा—"वचन याद नहीं? अब विदा!"

"अगले क्षण ही वह लुप्त हो गई।"

"मैंने बहुत-से पहाड़ों में उसे ढूँढ़ा, पर कहीं भी पता न चला। घर लौटा तो वहाँ काजी की लड़की भी न मिली। वह तो पेलाम की ही हिकमत थी। उसी ने मेरी परीक्षा लेने के लिए काजी की

लड़की का स्वरूप धारण किया था !"

"मेरा मन और भी चंचल हो उठा ! वासना की सामग्री मुझे मिली, पर फिर भी मैं अतृप्त ही जो रह गया !"

"तब से मैं सांगे के सामने माथा टेक बैठता हूँ, पर मुझे शांति नहीं मिलती। बीच-बीच में निकल पड़ता हूँ उस पहाड़—बरफ से ढँके पहाड़ की ओर। हीरे-जवाहरात की खोज में नहीं! उस अनमोल हीरे—पेलाम की खोज में ! जानता हूँ यह वासना का अभिशाप है जिसका वरदान मैंने स्वयं माँगा था। अब भटकता-भटकता फिरता हूँ। हमेशा भटकता रहता हूँ।"

"पर वह नहीं मिलती।"

आखिरी वाक्य कह लामा चुप हो गए। वृष्टि बंद हो गई थी, हवा भी शांत ! चारो तरफ निःस्तब्ध था। पूछने के लिए तो और कोई था नहीं, मेरा मन अपने आप से ही पूछने लगा—

"और मुझे क्या वह मिलेगी ?"

अगले दिन का प्रभात शायद मेरे जीवन का सबसे सुन्दर प्रभात था।

गौरीशंकर की सबसे ऊँची चोटी पर सूर्य की पहली किरणें अमृत ढाल रही थीं। धीरे-धीरे उसी अमृत में वह शृंग स्नान करने लगा। फिर और शृंगों की बारी आई। वे सब के सब उस स्नान से अमर बनते जा रहे थे।

फिर हम मर्त्यलोक वालों की बारी आई। इस ढंग का स्नान शायद पहले कभी और किसी ने नहीं किया होगा। लगता था, मानों सारा मर्त्यलोक ही दिव्यलोक में परिणत हो गया हो !

और डिरी डोलमा ?

उसके संबंध में तो यह विश्वास करना ही असंभव था कि वह वास्तव में देवबाला नहीं है। इस पृथ्वी पर वह यों ही भूलती-भटकती आ गई है। आदमियों के व्यवहार से वह बिलकुल अपरिचित है, उनसे कहीं अधिक वह प्रकृति के निकट है।

वह पहाड़ों की ओर जाने के लिए बाहर निकली थी। जँगले से ही मैंने उसे देखा और पुकार कर कहा—'मैं भी चलूँगा।'

लामा सांगे के सामने धूपबत्ती जला रहे थे। मुझे जाने के लिए तैयार देख उन्होंने पूछा - "किधर ?"

मैंने पहाड़ों की ओर इशारा किया।

"डिरीडोलमा के साथ ?"

मैंने हुँकारी दी।

"सावधान ! पहाड़ों पर तुषार के बड़े-बड़े बवंडर आया करते हैं। डोल-मा

तो उनमें ही पली है - पर तुम…?"

बिना कुछ उत्तर दिए मैंने बुद्ध भगवान की मूर्ति को प्रणाम किया और बाहर निकल आया।

हम हिमालय के उस अंचल में जा निकले जो हमेशा ही हिम से ढँका रहता है। वहाँ उसने मुझे कई बड़े आश्चर्य की चीजें दिखलाईं। बातें वह बरफ और पहाड़, तूफान और बादलों की ही करती रही।

एक जगह ऊपर उठते समय मेरे पाँव फिसल गए। इससे हमारे नीचे के तुषार का मखमली गद्दा कुछ छिल गया। दिखाई दिए कुछ खिले हुए फूल। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसे पुकार मैंने वे फूल दिखलाए।

"उन्हें न तोड़ना"—पहली बार उसकी बोली में भय का आभास मिला—"वह हमारे लिए अभिशाप हो जा सकता है।"

"अभिशाप ?"

"हाँ, जैसा मैंने सुना है, मैं तो उसे अभिशाप ही कहूँगी। यह फूल ले लेने पर प्रकृति की ओर से मन विमुख हो जाता है और उस ओर दौड़ने लगता है जिसे आदमियों की दुनिया में सबसे बड़ा सुख गिना जाता है। आदमी मन में एक अजीब प्रकार की बेचैनी अनुभव करता है, पर उसी का नाम वह देता है—सुख। फिर जैसे ही तुम उस मानसिक सुख का घेरा बाँध उसे स्थूल शारीरिक सुख के रूप में अनुभव करना चाहोगे, ये फूल सूख जाएँगे। तब एक बहुत बड़ा अनिष्ट आ घटेगा। उस समय तुम कल्पना में भी भूल जाओगे कि कभी तुम भी सुखी थे। यह क्या अभिशाप नहीं?"

"पर उसके पहले कुछ देर के लिए तो सुख अनुभव करूँगा?"

"हाँ, कुछ ही देर के लिए।"

"जीवन में मैंने कभी भी तो सुख अनुभव नहीं किया, क्यों न उसे भी एक बार आजमा देखूँ!" यह कहते हुए मैंने दो फूल तोड़ लिये। एक मैंने अपने हाथ में रखा और दूसरा दिया उसे।

उसकी प्रकृति जादू की भाँति पलट गई। भाव की कमी के कारण दीखनेवाला रूखापन उसके चेहरे से जाता रहा। अभी कुछ देर पहले दीखता था मानों आदमियों के भाव-जगत से उसकी कभी भेंट ही नहीं, पर अब दीखने लगा मानों उसका उसी जगत् में जन्म हुआ और उसी में विकास होता रहा है।

सुख ?

मेरे लिए कल्पना के सुख से भी अधिक मधुर और प्रिय। उसके चेहरे पर

बरफ के तूफ़ान के समय से भी अधिक आनन्द !

"क्यों न यही सुख स्थायी रहे ?" मैं उससे पूछने लगा।

वह काँप उठी।

"यहाँ बहुत-से रत्न छिपे हैं। ढूँढ़ने पर हमें भी कुछ मिल ही जाएँगे ! उन्हें लेकर हम लौट चलें आदमियों की दुनिया में। उतना सुखी जीवन तो शायद नीचे की दुनिया के किसी आदमी ने कल्पना में भी न देखा होगा।"

वह कुछ न बोली। मैंने समझा, शायद उसे मेरा प्रस्ताव पसंद नहीं। मैं उसे पकड़ अपनी ओर खींच लाया। उसने आपत्ति नहीं की।

उसका स्पर्श कितना कोमल था। बरफ के नीचे उगे फूल देख मुझे जितना आश्चर्य हुआ था, इस समय उससे भी अधिक चकित हो उठा। मैंने कभी खयाल भी नहीं किया था कि सदा पहाड़ों में घूमती रहने वाली इतनी स्निग्ध और रुई के फाहे की तरह नरम हो सकती है। ,

उसकी बाँह सिर्फ एक क्षण के लिए मेरी गरदन अपनी ओर खींच पाई थी। मेरी नजर उसके हाथ के फूल पर पड़ी। वह मुरझा चला था।

हमारे सामने का दृश्य ही बदल गया। एक क्षण पहले जो प्रकृति हँस-हँस कर बातें करती दीखती थी, उसी ने महा-विकराल रूप धारण कर लिया। हमने जैसे उसका सबसे बड़ा अनिष्ट किया हो।

हू-हू कर हवा चलने लगी। वह अपनी फूँक से ही हमें नीचे लुढ़का देना चाहती थी। उससे भी जब हम विच-लित होते न दिखाई दिए तो वह अपना स्वर कर्कश से कर्कश बना मानों हमें डपट कर वहाँ से चले जाने का हुक्म देने लगी।

उधर गौरीशंकर शृंग ने भी हम पर आक्रमण शुरू किया। पहले उसने तुषार के कणों से हमारे चेहरे पर आघात किया। वे हमें गोलियों-जैसे लगे। उनसे भी जब हम विचलित न हुए तो वह ऊपर से पत्थर और फिर चट्टान पर चट्टान हमारी ओर लुढ़काने लगा। उन चट्टानों के टकराने की आवाज हजार तोपों के एक साथ छूटने-जैसी थी।

अब हमें अनुभव होने लगा कि हमने वास्तव में ही भगवान शंकर के ध्यानस्थल में पहुँच कर उनकी समाधि में विघ्न डालने की धृष्टता की है।

"मैंने तुम्हें सावधान किया था

न ?" कहीं बहुत दूर से लामा कह रहे थे।

कितनी कोशिश करने पर भी मेरी आँखों के सामने सांगे भगवान की अभयदान देने वाली मुद्रा नहीं आ रही थी।

उन सब के खिलाफ़ मैं कुछ देर तक संघर्ष करता रहा। वे मेरी पकड़ से उसे छुड़ा ले जाना चाहते थे। मैं उसे छोड़ने के लिए राजी नहीं था।

उस तूफ़ान में वह पत्ते की तरह काँप रही थी। अपने संघर्ष के सिलसिले में उसने एक क्षण के लिए कस कर मेरा आलिंगन किया—शायद मेरे साथ जकड़े रहने के खयाल से।

पर अगले क्षण ही किसी बिजली के जैसे झटके ने उसे मुझसे दूर फेंक दिया। वहाँ उसके पांवों के नीचे का तुषार हटने लगा। वह नीचे जाने लगी। एक पत्थर उसकी पकड़ में आया। एक क्षण के लिए वह रुकी। उसकी आखिरी दृष्टि मेरी ही ओर थी।

फिर उस पत्थर ने भी जवाब दे दिया!

वही तूफ़ान मुझे बेहोशी की हालत में ही लुढ़काता-पुढ़काता नीचे ले आया। आँखें खोलने पर मैंने देखा – सब शांत हो चुका था।

मेरी आँखों के सामने था – गौरी-शंकर का वही शृंग। इस समय भी उसने अपनी बाँहें दो चोटियों के कंधों पर फैला रखी थीं। वे दोनों माँ-बेटी-जैसी दीखती थीं। उन्हें पहचानने में मैं भूल नहीं कर सकता था। वहाँ दाहिनी ओर वाली ही थी – मेरी डिरी डोलमा।

वह मानों मेरी ही ओर देख रही थी। यह दृष्टि ठीक उसकी उस दिन की आखिरी दृष्टि-जैसी ही थी।

मैं उस ओर और नहीं देख पाया।

लौट पड़ा पीछे की ओर।

पुरुष—स्त्रियों को समान अधिकार ? व्यर्थ की बात! भला कौन स्त्री है जो सुन्दर होने की अपेक्षा बुद्धिमान होना चाहती है ?

स्त्री—बहुत ठीक। किन्तु स्त्री क्या करे ? पुरुष तो मूर्ख प्रायः ही होते हैं—किन्तु अंधे बहुत कम।



तेलुगु-साहित्य

प्रो० वारणासि राममूर्त्ति 'रेणु'

"तेलुगु में 'तेने' शब्द प्रयुक्त होता है शहद के अर्थ में। यह भाषा अपनी मिठास के लिए सारे दक्षिणापथ में प्रसिद्ध है। पाश्चात्य भाषाविदों ने इसे "दि इटालियन आफ दि ईस्ट" कह कर इसकी निसर्गजनित माधुरी तथा संगीत की उपयोगिता की दाद दी है।"

आंध्र प्रदेश में व्यवहृत भाषा 'तेलुगु' अथवा 'तेनुगु' कहलाती है। इसके उद्गम के बारे में भाषाशास्त्र के पंडितों में मतभेद है। डा० काल्ड्वेल महोदय के अनुसार यह द्राविड-कुल की भाषाओं में एक मानी जाती है। किंतु डा० चिलकूरिनारायण राव जी की धारणा है कि 'आंध्र' जाति की ही तरह उनकी इस भाषा का भी उद्भव, आर्यों की भाषा संस्कृत से, हुआ है। इस अनुमान की पुष्टि तेलुगु के आदि-कवि श्रीनन्नय भट्टारक के व्याकरण 'आंध्र-शब्द-चिन्तामणि' की यह पंक्ति करती है—

"आद्य प्रकृतिः प्रकृतिश्चाद्ये,
एषा तयोर्विकृतिः।"

अर्थात् संस्कृत और प्राकृत आदि-भाषाएँ हैं और यह (तेलुगु) उनके विकार परिणाम से बनी है। 'तेलुगु' और 'तेनुगु' ये शब्द क्रमशः 'त्रिलिंग' या 'त्रिकलिङ्ग' और 'त्रिनग' शब्दों के परिणाम माने जाते हैं। प्रसिद्ध शैवक्षेत्र दक्षाराम का 'भीमेश्वर लिङ्ग', श्रीशैल का 'मल्लिकार्जुन लिङ्ग', तथा कालहस्ती का 'ईश्वरलिंग' त्रिलिङ्ग हैं। इनके बीच की भूमि में व्यवहृत भाषा होने से इसका नाम 'तेलुगु' पड़ा है। इसी प्रकार तीन नगों[1]*

*1 ये तीन पर्वत हैं कटक के पासवाला महेंद्रगिरि, श्रीशैल या श्रीपर्वत और कालहस्ती का पहाड़। —ले०

(पहाड़ों) के मध्य प्रदेश में व्यवहृत होना भी इसके 'तेनुगु' कहलाने का कारण बना है। तेलुगु में 'तेने' शब्द प्रयुक्त होता है—शहद के अर्थ में। यह भाषा (अजंत) स्वरांत होने के कारण अपनी मिठास के लिए, सारे दक्षिणापथ ही में नहीं, वरञ्च पाश्चात्य भाषाविदों में भी प्रसिद्धि पा चुकी है। इसे 'दि इटालियन आव दि ईस्ट' कहकर उन भाषामनीषियों ने इसकी निसर्ग-जनित माधुरी तथा संगीत की उपयोगिता की दाद दी है। आंध्र-माता के सपूत, महान् वाग्गेयकार एवं नादयोगी श्री संत कवि त्यागराज के गीतों का गायन, दक्षिण के विभिन्न-भाषा-भाषी सभी संगीतज्ञ बड़े आदर के साथ करते हैं; यही एक विषय तेलुगु में विद्यमान अन्यत्र-दुर्लभ माधुर्य एवं प्रासादिकता का सबल प्रमाण है।

तेलुगु भाषा में स्फुट एवं पुष्ट साहित्य के दर्शन हमें ई० सन् १०५० के आसपास होते हैं। इस साहित्य के पितामह 'वागनुशासक' महाकवि नन्नय भट्टारक-कृत संस्कृत-महाभारत का अनुवाद-ग्रंथ ही यहाँ का सर्वप्रथम काव्य-ग्रंथ माना जाता है। उसके पूर्व भी अनेकानेक साहित्य-संबंधी रचनाएँ लोक-गीतों, 'यक्षगानों' (गेय नाटक), पदों तथा वीरगाथाओं के रूप में प्रचलित रहीं अवश्य। किंतु नन्नय भट्टारक के ग्रंथ का-सा व्यवस्थित काव्यत्व वे प्राप्त नहीं कर सकीं। अलावा इसके उस समय की अधिकांश कृतियाँ आज देखने में नहीं आती हैं। अतएव महाभारत के पूर्व के समय को हम तेलुगु-साहित्य का 'अज्ञात युग' कह सकेंगे। आदि-कवि से लेकर आजतक के समय का, साहित्यिक दृष्टि से, विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. पुराण अथवा अनुवाद-युग—(ई० सन् १०५०से १५०० तक)

२. प्रबंध-युग अथवा मध्ययुग—(ई० सन् १५०० से १७५० तक)

३. ह्रास-युग—(ई० सन् १७५० से १८७५ तक)

४. वर्त्तमान युग—(ई० सन् १८-७५ से आज तक)

पुराण-युग में विशेषकर संस्कृत के बृहत् ग्रन्थों के अनुवाद ही किये गये हैं। मौलिक रूप से कोई भी उल्लेखनीय रचना नहीं हुई है। इन अनूदित ग्रंथों में महाभारत, रामायण, महाभागवत, हरिवंश, शृंगार-नैषधम्, काशीखंडम् तथा भीमखण्डम् वगैरह प्रधान हैं। महाभारत का प्रणयन तीन महाकवियों के द्वारा

हुआ है जिन्हें 'कवित्रय' कहते हैं। सर्वश्री नन्नय भट्टारक, महाकवि तिक्कनामात्य और प्रबंधपरमेश्वर यर्राप्रगडा ने उस महान् ग्रंथ को समस्त काव्यगुणों से समलंकृत कर साहित्य-कामिनी का शिरोरत्न बना दिया है। श्री नन्नया वर्त्तमान राजमहेंद्री के तत्कालीन शासक आंध्र चालुक्य राजा श्रीराजराजनरेंद्र के समय में रहे। श्री तिक्कनामात्य ई० सन् तेरहवीं शतक के मध्योत्तर भाग में नेल्लूर के शासक राजा मनुमसिद्धि के प्रधान मंत्री तथा कवि रहे। श्री यर्रना का समय ई० सन् १३०० से लेकर १३५० तक निकलता है। लगभग इसी समय श्री रायनि भास्कर नामक कविवर ने रामायण का अनुवाद तेलुगु में प्रस्तुत किया था। उनके कतिपय वर्ष पीछे प्रातःस्मरणीय महाकवि एवं भक्तवर पोतनामात्य ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'आंध्रमहाभागवत' का प्रणयन किया था। परमार्थ तथा साहित्य, दोनों दृष्टियों से देखने पर यह तेलुगु-साहित्य का महान् गौरव-ग्रंथ ठहरता है। इसकी पहुँच, उत्तर में श्री गुसांई जी की रामायण की तरह, आंध्र प्रदेश में सर्वत्र है। इन पोतना के स्यालक महाकवि श्रीनाथ ने संस्कृत के हर्ष-कविकृत नैषधीयचरित्र तथा काशीखंड वगैरह १४ ग्रंथों के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये थे। इनके अलावा सर्वश्री शिवकवि सोमनाथ, नन्नेचोड, नाचन सोमना, गोन बुद्धारेड्डी वगैरह इस समय के गण्यमान कवि हैं।

मध्ययुग में जाकर कलाकारों की साहित्य-सृजन-पद्धति बदल गई। तब तक चली आती हुई संस्कृतानुवादों की परम्परा रुक-सी गई। 'प्रबन्ध-रचना' नामक एक नूतन काव्यशैली का आरंभ हो गया। 'प्रबंध' शब्द का प्रयोग तेलुगु में महाकाव्य के अर्थ में होता है। इस समय की प्रायः सभी रचनाओं के वर्ण्यविषय शृंगार-प्रधान हैं। अष्टादश प्रकार के वर्णन, अलंकारों की बहुलता, श्लिष्ट, द्विअर्थी, त्र्यर्थी काव्यों का निर्माण, अपूर्व तथा विचित्र कथावस्तु-ग्रथन, समस्या-पूर्ति, दुरूह-शब्द-योजना वगैरह की ओर कवियों की प्रवृत्तियाँ उन्मुख रहीं। विलासिता को कविता-क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। दो-तीन कवियों को छोड़ सबने साहित्य को प्रजा-जीवन से दूर हटा कर आदर्श-भ्रष्ट बना डाला। फिर भी तेलुगु-भाषा एवं साहित्य को गौरवान्वित करने में समर्थ कई कृतियाँ इसी समय बनी हैं। विश्वविदित विजयनगर राज्य के शासक श्री कृष्णदेवराय ने

साहित्य तथा शिल्पकला की जो उन्नति कराई थी, उसे दृष्टिकोण में रखते हुए हम इस समय को आंध्र-संस्कृति का स्वर्णयुग मान सकेंगे। सैकड़ों कवियों को आश्रय देने के अलावा ये महाराज स्वयं उत्तम श्रेणी के कवि और प्रौढ वाग्विधायक रहे। इसका सबल प्रमाण इनकी रचना 'आमुक्त-माल्यदा' प्रस्तुत करती है। महाकवि पेद्दना, सूरना, भट्टुमूर्ति, तेनालि रामकृष्ण, नंदि तिम्मना आदि मध्ययुग के प्रतिभावान् कवि रहे। इनकी रत्नोपम कृतियाँ 'मनुचरित्रमु', 'कलापूर्णोदयमु', 'राघवपाण्डवीयमु', 'वसुचरित्रमु', 'पाण्डुरंग माहात्म्यमु तथा 'पारिजातापहरणमु' तेलगु-साहित्य', की अमर संपत्ति हैं। प्रबंध-युग के सांध्य-काल (ई० सन् १६००-१७५०) में साहित्यिक महारथियों का वह अखाड़ा विजयनगर से हटकर सुदूर दक्षिण के तंजाऊर के नायक राजाओं के आश्रय में जम गया। उस समय की रचनाओं पर नख-शिख, नायिकाभेद वगैरह समाज को पतित बनाने में समर्थ नग्न श्रृंगार की छाप अपेक्षाकृत अधिक पड़ गई है। स्त्री कवि मुद्दुपलनि की रचना 'राधिकास्वांतनमु', श्री बैंकटपति की कृति 'ताराशशांक विजयमु' वगैरह इस श्रेणी की हैं। श्री चेमकूर वेंकटकवि कृत 'विजयविलासमु' अपनी विशिष्ट विशिष्टता लिये रहता है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में कोई न कोई शब्दार्थगत चमत्कार अवश्य रहता है।

ई० सन् १७७५ से धीरे-धीरे देशी राजाओं का अधिकार क्षीण होने लगा; अंग्रेजी हुकूमत के फैलाव के साथ-साथ उनके पादरियों का धार्मिक विष-प्रचार भी बढ़ता गया। देशी संस्कृति, साहित्य एवं ललितकलाओं को प्रश्रय देनेवाला कोई नहीं रह गया। परिणाम-स्वरूप साहित्य भी अवसन्न दशा को प्राप्त होने लगा। करीब १०० वर्षों के इस साहित्यिक शैश स्तब्धता के पश्चात् ई० सन् १८७५ के आसपास नवयुग-कोकिल श्री स्व० कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु ने समाज-सुधार एवं निज-भाषा-प्रेम की सुन्दर प्रभाती गाकर तंद्रालस जाति को जगाया। वर्तमान साहित्य के प्रायः सभी अंगों का श्रीगणेश इन्हीं महानुभाव के हाथों हो गया है।

श्री वीरेशलिंगम् जी ब्राह्मसमाजी थे। अतः उनका ध्यान साहित्यिक पुनरुत्थान के साथ-साथ सामाजिक नव-निर्माण की ओर भी गया। बहुत ही छोटी उम्र में लड़कियों की शादियाँ करना तथा विधवा-विवाह-निषेध वगैरह अन्ध-परंपराओं के वे कट्टर विरोधी थे। सुधार-

संबंधी अपने उग्र विचारों का प्रचार करने में उन्होंने साहित्य को सुन्दर साधन बना लिया था। उनके विचारों से प्रभावित होकर कई नवयुवक लेखक उनके अनुयायी बन गये और उनके दिखाये मार्ग पर चलकर साहित्य की सेवा करने लगे। उनमें श्री पानुगंटि तथा चिलकमूर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्री वीरेशलिंगम् जी के बाद श्री तिरुपति-वेंकटेश्वर कविद्वय का समय आता है। ये श्री तिरुपति शास्त्री तथा वेंकट शास्त्री नामक दो अपूर्व प्रतिभा-संपन्न कवि-बन्धु रहे। काव्य-रचना में दोनों बेजोड़ थे; दोनों ने कविता को ही नित्य-जीवन में भाव-विनिमय का साधन बना लिया था! इन दोनों ने 'शतावधान' की अद्भुत नवीन परम्परा का प्रारंभ कर, साहित्य की अनुपम सेवा की है। दोनों आशु-कवि थे और एक-एक घंटे में पचासों पद्य धड़ाधड़ सुनाते जाते थे। देश के छोटे-मोटे जमीन्दारों के यहाँ जाते; उनके आश्रित पंडितों तथा कवियों को साहित्यिक समर के लिए ललकारते और अपनी अमोघ वाणी से परास्त कर दम लेते! इनकी प्रतिभा से मोहित हो कर कई प्रतिभाशाली नवयुवक उनके शिष्य बने और 'शतावधान', 'अष्टविधान' आदि कठिन से कठिन साहित्यिक चमत्कारों का प्रदर्शन करने लगे। इनमें से श्री वेंकट शास्त्री जी 'किंकवीन्द्र-घटा-पंचानन' को विशिष्ट उपाधि से अलंकृत रहे और चौरासी वर्ष की लम्बी उमर बिताकर गत शिवरात्रि के पुण्यदिवस को कैलासवास प्राप्त कर गये! वर्तमान मद्रास-सरकार ने इन्हें हाल ही में अपना 'आस्थान कवि' (Poet Laureate) बना लिया था। इन्हीं कविद्वय के शिष्य तथा प्रशिष्य आज तेलुगु-साहित्य को विभिन्न रीतियों से सजा रहे हैं। एक शब्द में यदि कहा जाय तो वर्तमान तेलुगु-साहित्य का इतिहास ही श्री वेंकट शास्त्री की जीवन-कथा कहा जा सकता है। अस्तु!

बीसवीं शती के प्रथम चरण में स्व० श्री गुरजाड अप्पाराव तथा रायप्रोलु सुब्बाराव नामक दो युग-प्रवर्तक कवियों ने साहित्य-क्षेत्र में युगांतर-सा खड़ा कर दिया। श्री अप्पाराव जी ने समाज-सुधार की आवश्यकता के साथ-साथ देशभक्ति की ओर प्रथम बार लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। ये श्रीवीरेशलिंगम् जी के अनुयायी रहे। सामाजिक तथा साहित्यिक पुरानी रूढियों को तोड़ना इनका काम रहा। श्री आचार्य

रायप्रोलु सुब्बाराव जी के जीवन में आरंभ से काव्यत्व ही प्रधान रूप से पाया जाता है। समाज-सुधार अथवा राजनीति से कोई संबंध वे नहीं रखते। उन्होंने मुक्तक-काव्यक्षेत्र में 'प्रेम' व 'प्रणय' की प्रतिष्ठा करके एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया है। उनकी रचनाओं पर कवींद्र रवींद्र के विचारों की छाप साफ लक्षित होती है। साथ-साथ अंग्रेजी कवि 'कीट्स,' 'शेली,' 'वर्ड्स-वर्थ' आदि की रचनाओं से भी वे प्रभावित हुए हैं। 'तृणकं-कणमु,' 'जड़कुच्चुलु' वगैरह उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'भाव-कवित्वमु' नामक नवीन काव्यधारा के वे प्रतिपादक हैं।

महात्मा गांधी तथा कांग्रेस ने राष्ट्रीय जागरण का जो शंख बजाया था, उसके श्रवण से आंध्र जनता में भी हल-चल-सी मच गई। श्री गरिमेल्ल सत्य-नारायण वगैरह कई देशभक्त कवि अपने अग्नि-गान के द्वारा पराधीनता को भस्म सात् करने में मग्न रहे। इस खेवे के लेखकों में वयोवृद्ध तपस्वी लेखक श्री उन्नवलक्ष्मीनारायण जी का नाम सम्मान के साथ लिया जायगा, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'मालपल्ली' के द्वारा स्वतंत्रता-समर तथा अस्पृश्यतानिवारण आदि कई राष्ट्रीय समस्याओं को बल पहुँचाया है। श्री ज्यषुवा नामक एक हरिजन कवि ने 'गब्बिलमु' नामक अपनी मधुर कृति में वर्त्तमान हरिजनों की दुर्दशा दूर करने की आवश्यकता का बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से प्रतिपादन किया है।

वर्तमान साहित्य के विकास में कई संस्थाओं ने भी योगदान किया है जिनमें प्रधान रूप से उल्लेखनीय दो हैं—'साहिती-समिति' तथा 'नव्य साहित्य-परिषद्'। पहली संस्था की स्थापना दो-तीन दशाब्दियों के पूर्व आदरणीय कवि पंडित श्री तल्लावझ्झल शिवशंकर स्वामी के सभापतित्व में हुई। ये महानुभाव तेलुगु, संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, बँगला आदि भाषाओं के अच्छे मर्मज्ञ हैं। इन से प्रेरणा पाकर कई नवयुवक साहित्य-क्षेत्र में कदम बढ़ा रहे हैं। दूसरी संस्था की स्थापना में भी श्री स्वामी जी का हाथ रहा। परिषद का कार्य सुचारु रूप से चलाने का श्रेय उसके मंत्री श्री ते० वेंकट रत्नम् जी को है।

ह्रासोन्मुख सनातन वैदिक संस्कृति, धार्मिक तथा नैतिक विचारधारा के पुन-रुत्थान को काव्य का वर्ण्य विषय मान कर रचना करने वालों में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी का नाम सर्वप्रथम लिया जायगा। इनकी रचनाओं में 'वेयि-

पडगलु,' 'चेलि यलिकट्टा,' 'एकवीरा,' 'किन्नर-सानिपाटलु' वगैरह प्रसिद्ध हैं। अनेक सफल काव्यों तथा एकांकी नाटकों के प्रणेता एवं 'नारायण भट्टु' 'रुद्रमा देवी' आदि उपन्यासों के लेखक श्री नोरिनरसिंह शास्त्री जी भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथक प्रयास कर रहे हैं। काव्य में प्रेम तथा स्वच्छंदता-वाद (Romanticism) को प्रधानता देकर दुःख की उपासना करने वाले कवियों में श्री देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री जी प्रधान हैं। कला को ही जीवन का चरम व परम ध्येय मान कर, जीवन में सर्वत्र उसी की उपासना करने वालों में श्री अडविबापिराजु जी का नाम सादर लिया जा सकता है। इनके गीत, उपन्यास, कहानियाँ सभी कलात्मक होकर अपने स्रष्टा के उदार हृदय की विशद व्याख्या कर देते हैं। ग्रामीण वातावरण तथा वहाँ के अधिवासियों के सरल, सुन्दर और पवित्र दम्पति-प्रणय का सजीव चित्र ठेठ देहाती भाषा में उतार कर काव्य-जगत् में एक नूतन अध्याय खोलने का श्रेय श्री नंडूरि सुब्बाराव जी को मिला है। इनकी 'येंकि पाटलु' का तेलुगु-साहित्य में अपना विशेष स्थान है।

उपरोक्त साहित्यिकों के अतिरिक्त सर्वश्री ज० माधव राम शर्मा, स्व० येट्टुकूरि वेंकटनरसय्या, दुव्वूरि रामिरेड्डी, श्री तुम्मल सीतारामर्मूर्ति चौधरी, गडियारम वेंकट शेष शास्त्री, दुर्भाक राजशेखर शतावधानी, श्री काटूरि वेंकटेश्वर राव, चिन्ता दीक्षितुलु, मुनिमाणिक्यम्, नरसिंहराव, कविकोंडल वेंकटराव, नायनि सुब्बा राव, वेदुल सत्यनारायण शास्त्री, श्रीरंगम् श्री निवास राव, मोक्कपाटिनरसिंह शास्त्री, भमिडिपाटि कामेश्वर राव, वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, कोराड रामकृष्णय्या, कुरुगंटि सीतारामय्या, वाविलाल सोमयाजुलु, पी० वें० हनुमंतराव आदि कितने ही समुज्वल ज्योति-पुंज अपनी सतरंगी मयूख-मालिका से वर्त्तमान साहित्य-गगन को जगमगा रहे हैं। अभिव्यञ्जनावाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, अतिवास्तविकतावाद (Sur-realism) आदि कितनी ही नई दिशाओं में होकर साहित्य की वेगवती स्रोतस्विनी विकास तथा उन्नति की ओर बढ़ रही है। यह पुरोगमन काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना, निबंध, आदि साहित्य के सभी क्षेत्रों में लक्षित हो रहा है। इन सभी विषयों पर दृक्पात् करते हुए हम कह सकते हैं कि तेलुगु-साहित्य के सामने उज्ज्वलतर भविष्य है।

मधुसूक्त

ऋग्वेद १।९०

हवा मधु का वितरण करती है, नदियाँ मधु बहाती चलती हैं; हमारे लिए सब अन्न मधुमय हों!

हमारी रात मधुमय हो, हमारा प्रात मधुमय हो; हमारे लिए धरती की धूल मधुमय हो; हे पिता, हमारा आकाश मधुमय हो!

हमारे खेत-बगीचे मधु से भरे हों, हमारे लिए सूरज मधु बरसायें; हमारी गायें मधु सा मीठा दूध दें।

अथर्ववेद १।३४

मेरी जीभ के अगले हिस्से पर मधु हो, मेरी जीभ के मूलभाग में मधु हो; मेरे कामों में भी यह जरूर रहे और मेरे मन में भी।

मेरा आना मधुमय हो, मेरा जाना मधुमय हो; मैं मधु-भरी बातें बोलता हूँ, मैं मधु के समान हो जाऊँगा।

मधु से अधिक मीठा मैं हूँ—माधुरी से भी अधिक मधुर मैं हूँ; मधुमती शाखा की तरह तू निस्संशय मुझसे आ लिपट!

मा भय!

अथर्ववेद २।१५

जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी न डरते हैं, न नाश को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार, हे मेरे प्राण, तू मत डर!

जिस तरह दिन और रात न डरते हैं, न नाश को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार, हे प्राण, तू मत डर!

जिस तरह सूरज और चन्द्रमा न डरते हैं, न नाश को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार, हे प्राण, तू मत डर!

जिस तरह ज्ञानी और वीर न डरते हैं, न नाश को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार, हे प्राण, तू मत डर!

जिस तरह सत्य और सरलपन न डरते हैं न नाश को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार हे प्राण, तू मत डर!

जिस प्रकार भूत और भविष्य न डरते हैं न नाश को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार, हे प्राण, तू मत डर!

जानी सुनी देखी

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

पूरब और पच्छिम

क्या बात है कि जो शरीर में चन्द दिन रहने आता है, वह आँख मूँद शरीर का ही होकर रह जाता है सरासर ! जाने कितनी बार इस शरीर में आकर वह क्या-क्या रस ले चुका है कि शरीर छोड़कर जाने के नाम से उसका रोआँ-रोआँ तक थर्रा उठता है निरन्तर । जभी तो यह शरीर का जाल वह जंजाल है कि उससे उद्धार नहीं ।

मगर यह शरीर हो या संसार, दो दिन के लिए उसके अन्दर आना और कितनी तड़ियों के बावजूद बैठे-बिठाये यों उसके हाथों बिक जाना ! हाय राम ! ऐसी मोहिनी है इस शरीर की—इस संसार की माया !

और तो और, जिस ठौर पर दस दिन भी हम रह जाते हैं, उस पौर की बन्दगो जी से नहीं छूटती । जेल से भी रिहा होने की घड़ी जेल के अपने 'सेल' से विदा लेते छलक आते हैं आँखों में आँसू । और, फिर कभी जेल के सामने से गुजरना पड़ा तो जी चाहता है कि अन्दर चल कर अपनी उसी कोठरी की चौखट पर सिर टेक आएँ, जो जाने कितने दिन अपनी होकर रह चुकी है । एक दिन जिस कोठरी की दम घोटत हवा काटने दौड़ती रही, आज जाने क्या ऐसी कशिश है कि दिल की दरीचियों तक झाँक जाती है वह । कहाँ है ऐसा बेलौस, जो अपनी पुरानी गली का मोह छोड़ बैठा और क्या फितरत है कि बरसों बाद भी जब लौट पाता है तो पाता है कि वही पुरातन आज जैसे नवीन है या यह नवीन जैसे चिर-पुरातन !

तो यह रुझान तो कभी बासी होने से रही ! जब चाहिए तब नई, जब

सोचिए तब पुरानी ! और जवानी की उमंगों और उम्मीदों में बसी वह गली तो साठ के पड़ोस में आकर भी कभी दिल की आँखों से ओझल नहीं होती।

"जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यो
सुभग स्याम सिर मौर।
मन चलि जात अजौं
वहै वा जमुना के ठौर॥"

१९१४ की बात है। जमाने पर कलकत्ते की सूरत देखी। वही चौरंगी, वही डलहौसी। हमारे तमाम बिछुड़े हुए गली-कूचे आज जैसे बाँह फैलाये छाती में समेटने उठे हैं।

जी तो चाहता है कि गली-गली से गले लग पाता। कितनी खोई हुई सूरतें आँखों पर थिरक उठीं। अपना वह कॉलेज, वह क्लब,वह इडन गार्डेन—सब अपनी ममता की डोरी डाल लगे खींचने। और-तो-और, इलियट लेन का वह छोटा-सा मकान, जहाँ बरसों सोया और जागा, रोया और हँसा, उभर आया इन आँखों के सामने।

मगर जी उठ-उठ कर बैठ गया। कल एम० ए० का इम्तहान जो सर पर है। पहले उससे निबट लूँ तो फिर अपने बिछुड़े हुए यारों से मिलूँ।

पटने से जाने कितने आए हैं इम्तहान देने। मेरे साथ हैं बलदेव बाबू। साथ वह आए और साथ ठहरे भी। बनैली राज की कोठी। 'इलिसियम रो'।

मैं पैरों पड़ उन्हें साथ लाया। उन्होंने दिल खोल साथ दिया भी। साथ भी ऐसा कि जब इम्तहान का नतीजा निकला तो मैं और वह एक साथ ही एक ही घेरे में आए—एक ही जगह, एक ही नम्बर। आप चाहे इसे इत्तफाक कहें, मैं तो इसे साथ का निबाह ही कहूँगा। उनकी जैसी सूझ-बूझ रही है, उस लिहाज से तो अपने हक की ऊँचाई से उतर कर मेरा साथ देना उनकी अपनी ऊँचाई नहीं तो क्या है? कुदरत के खजाने से क्या-क्या नहीं पाया है उन्हों ने? सूरत, स्वास्थ्य, दिल और दिमाग—सब कुछ। और, आज जब कानून का खजाना उनकी जवान पर है तो फिर कारूँ का खजाना तो मेहरबान होकर बरसेगा ही। लेखनी के धनी चाहे वैसे वे न हों, जवान की वैसी अमीरी तो दो-चार ही को मयस्सर होगी।

उन्हें साथ पाकर मेरी ही बन आई, कुछ उनकी नहीं। कहा न, घर की झंझटों की वजह मेरी इम्तहान की तैयारी तो बस, यों ही थी। उनके साथ-साथ बातों के सिलसिले में जाने कितना जान

लिया मैंने। जी भी बहला। मुश्किल भी हल हुई।

दरभंगा-बिल्डिंग के चील-कोठे पर हमारी किस्मत का फैसला रहा। सुबह दस बजे पौर पर मौजूद। सीढ़ियों पर चढ़ते चोटी की चढ़ाई हो गई जैसे।

मगर घड़ी कुछ टेढ़ी न थी। इम्तहान के परचे आसान निकले। कहाँ कोरा-का कोरा रह जाता, कहाँ एक छोर तो पा गया। दिल बढ़ा। आँखें चमक उठीं। हाँ, वे दस दिन कैसे बीते, यह तो वही जान पाता है जिसकी जान पर भी आया हो वैसा एक दिन। आज तो जैसे-तैसे निभ गया, कल क्या होगा — बस, पल-भर कल नहीं। चौरंगी की चहल-पहल भी अपनी सजधज लिये रह गई। आँखें तक रिझा न सकी, दिल क्या रीझता!

मगर दसवें दिन वही चौरंगी की चौमुहानी क्या-से-क्या हो गई — क्या बताऊँ? जो कल उजाड़-सी दिखी, आज जाने किस निखार — रस-संचार से भर गई!

इम्तहान से छुट्टी पाकर लौटते वक्त रास्ते ही में उतर पड़ा और पता नहीं, कितनी रात बीते घर लौटा। क्या-क्या देखा, क्या-क्या सुना और कहाँ-कहाँ झूमता फिरा—वह क्या इस लेखनी से अदा होने की है? सर पर छाया हुआ बादल क्या सरका, दुनिया के चेहरे से जैसे घूँघट सरक गया। चौरंगी की अपूर्व भंगी तो जैसे आज ही आँखों ने देखी। गोधूलि की धुँधली लाली भी दिल पर हरियाली-सी उतर आई। और, दक्खिनी हवा तो उमड़ कर लगी कानों में रस का सन्देश देने।

वाह री मन की माया! तुझपर छाए हुए तनाव का गिरना था कि दिल उठ पड़ा खम ठोंक। बस, 'लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल!'

हमारे एक साथी अपने ढंग के निराले निकले। वह साथ न आकर ऐन इम्तहान के बीच जाने कहाँ से टपक पड़े। हम लोग तो समझ बैठे थे कि वह आते आते रह गए। हो गई होगी कोई वैसी अड़चन अनायास।

परचे बँटे आध घंटे से भी अधिक हो चुके होंगे कि हॉल के अन्दर एक चहल-पहल-सी हुई और हमारे पड़ोस की खाली सीट पर किसी के बेतहाशा कुर्सी खींच बैठने की आवाज आई। निगाह जो उधर मुड़ी तो देखा कि वही मित्रवर हैं। ललाट पर तिलक, शिखा में

बिल्वपत्र, गले में जवा का हार—एक निराली सजधज।

कॉपियाँ देकर जब चार बजे लौटने लगे तो मुझसे रहा न गया। टोक बैठा—"क्यों भई, तुम तो साथ ही चले थे। रास्ते में कहीं उतर पड़े क्या?"

"बस, वैद्यनाथधाम रुकना पड़ा एक दिन।"

"मगर ट्रेन तो तुम्हारी आठ बजे तक आ जाती है। इतनी देर क्यों लगाई?"

"क्या बताऊँ, स्टेशन से सीधे काली घाट गया। फिर दर्शन-पूजन करते-करते देर हो ही गई। मेरा तो कोई दूसरा सहारा नहीं।"

"मगर इम्तहान के बाद ही जाते तो क्या..."

"जी, फिर तो कहीं का न रहता। ऐसी बे-अदबी. . . . ."

अपनी-अपनी लगन, अपनी-अपनी धुन। मगर मैं पूछता हूँ कि भय की भित्ति पर ही हमारी तमाम भक्ति की स्थिति है क्या? हम जिससे डरते हैं, उसी पर मरते भी हैं। जभी तो भय और भक्ति का दामन-चोली है बराबर। हाय राम! जो अभय पद है, वही भय का आलम बन गया! उसकी दिलदारी हम पर वशी नहीं चलती, पर उसकी तोता-चश्मी हमपर बराबर खलती है।

मुँह-अँधेरे पलकें जो खुल पड़ीं तो अतीत की जाने कितनी तस्वीरें लगीं आँखों में फिरने। चेतना के न जाने किस अज्ञात नेपथ्य से चन्द धूमिल शक्लें उभर आईं और बस, जी मचल पड़ा कि चलकर उन्हें गले लगाऊँ—साथ लेकर किसी होटल या थियेटर में जशन भी रहें।

"मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किए हुए,
जोशेकदा से बज्म चिरागाँ किए हुए।"

चार साल पहले के कितने संगी-साथी, जिन्हें लेकर कैसी हरी-भरी दिलचस्पी रही, आज लगे इशारे से जैसे अपनी ओर खींचने। एक ओर कॉलेज के हमजोली—ज्योतिर्मय, किरणशंकर और शहीद—उभर आए, दूसरी ओर से क्लब के सहचर दाराजाह और किसराजाह।

पटने से जो टोली साथ आई थी, वह तो बिस्तर लपेट लौट चली। रह गया मैं अकेला। मगर पल-भर भी जो लगा हो अकेला। आज मुद्दत पर दिन लौटा है। घर लौटने को दिल नहीं।

शाम होने पर आई है। आसमान पर बादल की टुकड़ियाँ नई सजधज में

लहालोट हैं। दक्खिनी हवा की छेड़-खानियाँ गले की चादर ही तक नहीं, दिल की पपड़ियों तक उतर आती हैं निरन्तर।

चला था इडन गार्डेन की सैर को, पर चौरंगी के मुहाने पर अपनी बिछुड़ी गली के नुक्कड़ पर के दीनू तमोली पर नजर जो पड़ी, तो एकबारगी दिल मचल पड़ा।

जिस मुहल्ले, जिस बँगले में उठती जवानी की लहरियों के कोई चार साल किस उल्लास से बीते, उनकी ममता की पुकार पर कान मूँदे पटने लौट जाना तो बड़ी भूल ही नहीं, दिल के अन्दर एक शूल भी पालना है बराबर।

इसी दीनू के हाथ के बीड़े, क्या बताऊँ, कैसे रसीले रहे निरन्तर। कॉलेज से लौटते वक्त फरमाइशी बीड़े मुँह में भर कर ही तो अपनी गली की ओर मुड़ते रहे हम। हो-न हो, बड़ा बाजार से लौटा आ रहा है, पान के नये पत्तों का गट्ठर लिये सर पर हसब मामूल।

आँखें चार हो गईं। उसका चेहरा खिल उठा। उतर पड़ा मैं भी ट्राम से। गले-गले मिले। और, कहाँ जाने को पच्छिम गंगा-किनारे, कहाँ खिंच चला पूरब। अपनी पुरानी गली की लगी कुछ ऐसी मुँहजोर निकली।

दीनू की दूकान तक आते-आते कितनी भूली-भटकी सूरतें लगीं आँखों पर उभर कर थिरकने। जिधर आँखें फिरती हैं, उधर वहीं देखी-सुनी तस्वीरें सामने आती हैं। कहीं कोई तब्दीली नहीं, कोई विकृति नहीं। लगा कि कॉलेज से लौटा आ रहा हूँ अपने रैन-बसेरे पर।

यों झूमता हुआ पहुँच ही तो गया गली के नुक्कड़ पर। देखा, दीनू की दूकान भी ज्यों-की-त्यों है। हाँ, तेल के दीये की जगह बिजली की बत्ती है आज। दो चार रँगीले फुटपाथ पर खड़े हैं शायद फरमायशी बीड़ों के इन्तजार में। दूकान की भीतरी दीवाल पर लटके हुए आइने में अपने चेहरे की छटा भी निहार रहे हैं गुलफुल। इसी आइने में जाने कितनी बार मैं भी अपनी भींगती मसों के साये में पान से रँगे होंठ किस चाव से देखा करता रहा! आज जो देखा तो पाया कि होंठ तो वही हैं जरूर, पर उनपर वह चमक है, न चाव।

एक दिन था कि दीनू बेचारा दीन था। दाने-दाने को मुहताज। तेल की बड़ियाँ तलते जवानी बीती। पान की दूकान तक आते-आते चालीस के उस पार आ गया। आज दीनू की दुनिया

बदल गई। उसकी मिहनत फली है, उसकी दयानत भी।

वह जमाना भी आज-जैसा बेशर्म नहीं था। वैसे चोरी तो दूकानदारी की दामन-चोली रही है अक्सर—कम या बेश। मगर आज-जैसी चोरबाजारी नहीं। कमाई थी, कमीनापनी नहीं।

दीनू मुझे पाकर निहाल हो गया जैसे। केवड़े में महमह चार बीड़े दिए मुझे। दाम नहीं लिया। याद रखने की याद दिलाई! हाथ जोड़े। पैर छुए।

मेरा दिल भर आया। याद में रक्खा तो क्या रक्खा, अगर उसे दिल में भी रख न सका। वह न साथी, न संगी। फिर भी कैसा सनेही!

पता नहीं, दीनू आज कहाँ है—इस पार या उस पार! कहीं भी हो, आदमी था दिलदार वह। और, उसके हाथ के बीड़े अपने ढंग के निराले रहे।

आगे बढ़ा। मुड़ गया अपनी गली में। कदम रखते ही मोरनी महरी पर नजर पड़ी। काँखतले साग-भाजी की डलिया दबाए जाने किधर सरपट चली जा रही है वह। सामने जो पड़ा, तो एक पल मुझे आँखें फाड़कर देखती रही, पर दूसरे ही पल एक अजब अदा से हँसकर सर और सीने से खिसके हुए साड़ी के पल्ले को चटपट अपनी जगह पर ले गई। और, रह-रहकर गर्दन फेर जाने क्या देख लेती मुझमें?

तभी सामने रमजान उस्ताद का अखाड़ा पड़ा। जाने कितनी जानी-पहचानी सूरत अनजान शक्लों के ईर्दगिर्द नजर आई।

कुश्ती छिड़ी हुई है। दाव-पेंच का सिलसिला दून पर है।

हम भी महीनों इसी मिट्टी की लोटपोट में पले। रमजान मियाँ के कान टूटे थे। उस्तादी की सनद उस जमाने में दूसरी नहीं थी। उनके हाथ के घिस्सों से मेरे कान जब दुखने लगे, तब मैंने फुरसत की कमी की वजह पेश कर अपना नाम कटा लिया था। मगर सनीचर या एतवार की शाम उस्तादी कला जंग की कलाबाजी देखने मेरे पाँव अखाड़े की ओर अनायास खिंच जाते।

खड़े होते ही मोहन खुमचेवाले ने झुककर कान में जता दिया कि अपने अखाड़े के चुन्नू और भवानीपुर के अखाड़े के किसी पहलवान के साथ कुश्ती छिड़ी है। महीनों दोतरफी मूछों की ऐंठ पर यह कुश्ती बदी थी। आज चित या पट। चुन्नू की हार हम सब की हार होगी। रमजान मियाँ की सुबकी तो

ऐसी करारी होगी कि फिर मुँह दिखाना मुहाल होगा।

कुश्ती अभी शुरू ही हुई है। ताल ठुक रहे हैं। पंजे गुँथ रहे हैं।

और, यारों ने आँखें मटका कर एलान किया कि आ गए 'अम्पायर'! आप पटने के किसी अखाड़े के उस्ताद ठहरे। कलकत्ते से वैसा कोई सरोकार नहीं। रसजान ने आकर तपाक से हाथ मिलाये। कब आए, कैसे आए, बड़े इन्तजार पर आए—चारों ओर से जैसे झड़ी लग गई। कनखियों से इशारे भी थे कि मैं अपना पूरा परिचय न उगल बैठूँ, नहीं तो भवानीपुर के अखाड़ियों के कान खड़े हो रहे, तो मेरे हाथ कुश्ती का फैसला रखने में अपनी हिचक पेश कर बैठेंगे।

हमने कहा कि यह अच्छे आए हम! कुश्ती साफ न उतरी और बाजी जिच्च रह गई तो फिर हार-जीत का निबटारा कैसे-क्या होगा? और, रसजान की मूछों के ताव के लिए अपने ईमान को ताक पर रखने को तैयार न था।

बस, चलता बना माफी माँग। मगर वाह री घड़ी की खूबी! एक फार्लांग भी आगे न बढ़ा होगा कि लीजिए, एक और सधी-बदी कुश्ती का हंगामा उस लीलामयी गली के बीचों-बीच नजर आया। मैंने भी कहा कि जाओ, तुम भी क्या याद करोगे कि कोई कद्रदाँ था तुम्हारा! बस, सीना तान घुस ही तो पड़ा भीड़ के भीतर।

देखा, वही तू-तू, मैं-मैं का तमाशा है, वही खैया। इधर छदामी साहु की बड़ी बहू, उधर छोटी। दोनों लस्टमपस्टम गुँथी हुई! एक एक का जवाब है और दोनों हैं लाजवाब!

जाने कितने साल होने पर आये, यह जोड़ की कुश्ती महल्ले की दिलचस्पी चली आई। ले-दे से चली और हाथा-पाई पर उतर आई।

मुहल्ले के शौकीनों की बन आई। चन्द इधर और चन्द उधर। उनकी ललकार न होती तो शायद यह तमाशा कुछ वैसा दिलपसन्द न होता। रहा छदामी, तो वह तो कहीं का नहीं रहता, अगर बहुओं की अपनी-अपनी टोलियाँ दूकान की बिक्री के लिए जैसे आग में घी न होतीं।

आखिर किसी तरह पल्ला छुड़ा आगे बढ़ा। आ गया अपने पुराने मकान के दर पर। देखा, मकान बन्द; ताला लगा हुआ। अन्दर कदम रखने का कोई रास्ता नहीं। खड़े होकर चारों ओर नजर दौड़ाई।

शाम की गुलाबी लुट चुकी है। गोधूलि की नीलिमा लगी है घनी होने। एक ओर से नीम की पत्तियों में झिलमिल उगते चाँद की पतली-सी किरण झाँक जाती है।

तभी सामने एक अंगरेज युवती पर नजर पड़ी। एक अजब अदा से झूमती हुई मुझपर टूटा चाहती है क्या? अभी आँखों में कुतूहल का दौर पूरा उठा भी न था कि एकबारगी वह—'अरे तुम हो!' कहती हुई दोनों हाथों लिपट पड़ी जैसे।

मैं सिट्ट! कोई देख न ले, कोई सुन न ले, कोई कुछ पूछ न बैठे! मुझे तो अपनी पड़ी थी उस पल। कोई पगली है क्या? अपना पल्ला छुड़ा अलग सरक गया।

रोएँ सिहर आए। एक अजीब-सी गुदगुदी, एक मीठी-सी सुरभि भी हमारी बेकली से उलझ पड़ी जैसे।

"कहाँ रहे तुम? कैसे भूल पड़े इधर?"

"माफ करना, मैं पहचान नहीं……"

"हाय रे करम! यह कैसे क्या हो गया!"

और वह टूट पड़ी बेसुध।

"मैं हूँ…तुम्हारी…वह मीनी।"

"मीनी?"

(क्रमशः)

संगीत

एक जन्मजात गायक के लिए हर चीज में संगीत है। हर चीज—जिसमें कम्पन है, गति है, हिलडुल है, धड़कन है! गरमी के चमकते दिन, हवा में शोर मचाती रातें, चिनगारी की चटख, तारों की भुकभुक, पंछियों का कलरव, कीड़ों की रुनझुन, पेड़ों के मर्मर, प्यारी या थकानेवाली गुमसुम, अंगीठी के नजदीक की चुहलें, किवाड़ की खटखट या रात की निस्तब्धता में शिराओं में दौड़नेवाली रक्तधारा—हर चीज में संगीत ही संगीत है। हाँ, उसे सुनने के लिए कान चाहिये।

—रोम्याँ रोलाँ

चिन्तन : मनन

गाँधी-हत्या-कांड के बाद जब समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने देश को आध्यात्मिक नेतृत्व देने के लिए महर्षि रमण का नामोल्लेख किया, तो सम्भवतः ही इस मनीषी की ओर लोगों की जिज्ञासा जगी ! प्रस्तुत लेख उस जिज्ञासा की तृप्ति कर सकेगा, ऐसी आशा है।

महर्षि रमण और उनकी 'मैं' की खोज

श्री साँवलिया बिहारी लाल वर्मा

महर्षि रमण की ख्याति अब सारे संसार में फैल चुकी है। दूर देशों से अनेक जिज्ञासु स्त्री-पुरुष आपके दर्शन के लिए और आपसे ज्ञान पाने के लिए रमणाश्रम में आकर महीनों ठहरते हैं। आश्रम मद्रास से प्रायः १०० मील दक्षिण-पश्चिम तिरुवनमले नगर के पास है। मद्रास से रामेश्वर जाने-वाले रास्ते पर विल्लुपुरम् जंक्शन से ब्रांच लाइन पूरब की ओर पांडुचेरी श्री अरविन्द के आश्रम को जाती है और पश्चिम तरफ रमण-आश्रम को। तिरुवन-मलाई स्टेशन से रमणाश्रम प्रायः दो मील है। मद्रास से बस भी सीधे तिरु-वनमले जाती है और किराया सिर्फ तीन रुपया लगता है। स्टेशन के पास ही अरुणा-चल महादेव का ज्योतिर्लिङ्ग है। आश्रम पहाड़ के पास ही है। आश्रम के सामने सरकारी रास्ता है और रास्ते के उस पार छोटे-बड़े पक्के तथा फूस के मकान हैं, जिनमें महर्षि के भक्त रहते हैं।

निस्सन्देह, आधुनिक भारत में रमण महर्षि सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी सन्त समझे जाते हैं।

आपका जन्म ३० दिसम्बर १८७९ को मदुरा से ३० मील दक्षिण तिरुचुली ग्राम में हुआ। इसके निकट कौडिन्या नदी बहती है। कौडिन्या को पापहरी भी कहते हैं। तिरुचुली एक पवित्र तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। तिरुचुली शब्द का अर्थ ओमकार है। आपके पिता श्री सुन्दरमय्यर सफल वकील थे

और चचा संन्यासी हो गये थे।

बचपन में आपमें कोई विशेषता न दीख पड़ी। प्रतिभा भी साधारण-सी थी। पढ़ाई में भी कोई विशेषता न थी। हाँ, खेल-कूद में आप बहुत दिलचस्पी लेते थे। कुश्ती लड़ने, दंड-बैठक आदि में विशेष अभिरुचि थी। फुटबाल खेलने और तैरने में बहुत मन लगता था। साधारण विद्यार्थियों की तरह झगड़ा-फसाद, मारपीट में भी रहते थे। अल्प-भाषी थे। किन्तु सोने में कुम्भकरण।

ग्यारह वर्ष की अवस्था तक तिरुचुली में तामिल का अध्ययन करते रहे। १८९५ में पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई और चचा के साथ मदुरा रहने लगे। अमेरिकन मिशन हाई स्कूल की दसवीं श्रेणी तक उनकी शिक्षा हुई। इस समय भी इनमें आध्यात्मिकता का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ता था, न भक्ति की ओर ही झुकाव था।

१८९५ के नवम्बर में आपको तिरुचुली का एक आदमी मिला। वह तीर्थ-यात्रा से लौटा था। पूछने पर उसने कहा—"अरुणाचल से आ रहा हूँ।" न जाने क्या बात थी कि अरुणाचल का नाम सुनते ही महर्षि की नसों में बिजली दौड़ गई। लगभग इसी समय आपको "परिय पुराणम्" की एक प्रति मिल गई। इस पुस्तक में द्राविड देश के तिरसठ शिवोपासक नायरों की वार्ता लिखी गई है। इस ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ते आपके मानस में भक्ति की लहरें उठने लगीं। ऐसा तल्लीन हुए कि भूख-प्यास तक भूल गये।

एक वर्ष बाद १८९६ में एक ऐसी घटना हुई कि उसने आपके जीवन की दिशा बदल दी। उन दिनों आप पूर्ण रूप से स्वस्थ थे। बीमारी का नामोनिशान न था। अचानक आपको डर लगा कि मरनेवाले हैं। जान पड़ा कि मर रहे हैं। शरीर में किसी प्रकार का परिवर्त्तन दिखाई नहीं दिया, किन्तु भावों का वेग इतना तेज था कि मृत्यु का भय और उसका अनुभव एक-सा होने लगा। शरीर सुन्न-सा हो गया। साँस रुक गई और होंठ बन्द हो गये। किसी प्रकार की ध्वनि नहीं निकलती थी। आपको ऐसा भास हुआ कि शरीर वहीं लाश के समान पड़ा है। आपको विश्वास हो गया कि मृत्यु इसीको ही कहते हैं। इस घटना का गहरा प्रभाव आपपर पड़ा। आपकी दृष्टि अन्तर्मुखी होने लगी, इष्ट-मित्रों का साथ छूटने लगा। खेल-कूद में जी नहीं लगने लगा।

लड़ाई-झगड़े, मानापमान का भाव बिल्कुल बदल गया। एकान्त-प्रिय हो गये। नियमित रूप से मदुरा के प्रसिद्ध मीनाक्षी देवी के मन्दिर में जाने लगे। वहाँ एकान्त में बैठकर भगवद्भक्ति की याचना करते। पढ़ाई में अब ध्यान न था और इसके परिणाम-स्वरूप सर्वत्र आपका तिरस्कार होने लगा। एक बार बड़े भाई ने रमण को आसन मारे ध्यान करते देखकर तानों में कुछ कटु वाक्य कह दिये। यह कटु वाणी तीर-सी चुभ गई। सहसा आपको अरुणाचल का स्मरण हो आया। उसी दिन घर से निकल पड़े। कुछ दूर गाड़ी पर, कुछ दूर पैदल, रास्ते की कठिनाई को झेलते हुए अरुणाचल पहुँचे। अरुणाचल के ज्योतिर्लिङ्ग के दर्शन करते आपने संसार का सब नाता तोड़ अपने-आपको श्री अरुणाचल के चरणों में समर्पण कर दिया और इसी १ सितम्बर १८९६ को इनके भावी दिव्य जीवन का आरम्भ हुआ। इस चिरस्मरणीय दिन की स्वर्ण-जयन्ती, तीन साल हुए, आपके भक्तों ने बड़े धूमधाम से मनाई और उस अवसर पर संसार के भिन्न-भिन्न देशों के अनेक महानुभावों के द्वारा प्राप्त महर्षि सम्बन्धी आत्मोद्गार एवम् श्रद्धाञ्जलि के संग्रह-रूप में जो स्मारक-ग्रंथ प्रकाशित किया गया है, वह अति उपादेय और पठनीय है।

तपश्चर्या के विचार से आपने संन्यास ग्रहण किया। मन्दिर में रहने लगे और मौन धारण किया। महर्षि का कथन है कि जीव और ईश्वर का भेद मिटने पर जो सहज समाधि प्राप्त होती है, उसी में स्थित रहने का नाम मौन है। मन्दिर के भीतर एक जगह बैठकर आप तप करने लगे। कोई खाने को देता, तो खा लेते। किसीसे माँगने न जाते। लड़के और ऊधमी युवक सिर्फ १७ वर्ष के नवयुवक को तपश्चर्या में लीन देख कर कौतूहलवश अथवा शरारत से निन्दा और हँसी-मजाक करते और पागल कहते। कुछ दुष्ट तो ईंट-पत्थर भी फेंकने से बाज नहीं आते। इससे तपश्चर्या में बाधा पड़ने लगी। अतएव मन्दिर के एक घोर तहखाने में चले गये, जहाँ कीड़े-मकोड़ों का राज्य था। कीड़े उनके पैर और जाँघों को काटते; किन्तु आप इस प्रकार ध्यान में मग्न रहते कि उसका ज्ञान भी नहीं होता। वेंकटाचल गोदली नामक एक सहृदय सज्जन का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ और उसने एक साधु की सहायता से घाव और पीब से

भरे इनके शरीर को उठाकर सुब्रह्मण्य स्वामी के गोपुर में लिटा दिया। उठाकर ले जाते समय भी आपकी समाधि नहीं टूटी। इससे लोगोंकी श्रद्धा बढ़ गई और आपका नाम ब्राह्मणस्वामी पड़ गया। यहाँ प्रायः बराबर ध्यानमग्न रहते। आँखें न खुलती थीं। इसके बाद महर्षि मन्दिर के दक्षिण-पूर्व ओर स्थित बगीचे में चले गये और तत्पश्चात् वाहन मंडप में रहने लगे। लड़कों ने पुनः छेड़-छाड़ शुरू कर दी और महर्षि दूसरी जगह एकान्त तपस्या में रत हुए। एक दिन एक लड़के ने महर्षि की पीठ पर पेशाब कर दिया। तदनन्तर तंबिरान नाम के एक शैव साधु ने महर्षि से अपने गुरुमूर्तम् मन्दिर में रहकर तपस्या करने का अनुरोध किया जिसको महर्षि ने स्वीकार किया। आपने यहाँ कठोर तपस्या की। महर्षि की ख्याति दूर-दूर फैल गई। आप यहाँ डेढ़ वर्ष रहे। जब भीड़ बढ़ने लगी, तब आप वेंकटराम के निकटस्थ बगीचे में रहने लगे। यहाँ आने पर समाधि सहज, नित्य हो गई। बाद में महर्षि पवलकुन्नु अथवा प्रवालगिरि पर रहने लगे। उनकी माताजी पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँचीं और घर वापस ले जाने का निष्फल प्रयत्न किया। फिर रोते-रोते घर लौट गईं। कुछ काल के बाद माताजी ने महर्षि के आश्रम में ही रहकर भगवद्भक्ति में मग्न रहते हुए प्राण त्याग किया।

१८९९ में महर्षि अरुणाचल पर्वत के तिरुपक्षि गुफा में रहने लगे। इस गुफा के उत्तर में मूलेपाल तीर्थ है और वहाँ भी एक गुफा है। कुछ और ऊपर जाकर स्कन्दाश्रम है, जिसके पास पानी का एक सोता बहता है। बड़ा सुन्दर और रमणीक स्थान है। यदा-कदा महर्षि इन स्थानों में भी रहते थे। पहाड़ पर साँप, बन्दर, मोर आदि थे। आश्रम के साँप और मोर को स्वाभाविक वैर-भाव छोड़कर मित्र के ऐसा विचरण करते और साथ-साथ नाचते देखकर लोगों-को कौतूहल होता था।

सितम्बर १८९६ को महर्षि ने मौन धारण किया था और प्रायः ११ वर्ष बाद १९०७ में आपने सर्वप्रथम गणपति मुनीन्द्र को उपदेश दिया था। गणपति मुनीन्द्र असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। १८ वर्ष की आयु में विद्या में असाधारण क्षमता प्राप्त की थी। निरन्तर मन्त्र-जप में लगे रहते थे। शिव पंचाक्षरी का कोटि-जाप किया था; किन्तु शिव का साक्षात्कार न हुआ। अतएव

शंका-निवारणार्थ महर्षि के पास आए और अपने को महर्षि के चरणों में समर्पण कर दिया। १५ मिनट तक महर्षि स्थिर दृष्टि से गणपति मुनीन्द्र की ओर देखते रहे। फिर धीरे-धीरे तामिल में इस प्रकार उपदेश दिया—

"अहमता का बोध जहाँ से निकलता है, उसीका परिशीलन करें तो मन उसी-में लीन हो जाता है—यह तप है।"

"मंत्र के जपते समय मंत्र का नाद जहाँ से फूटता है; उसका परिशीलन करें, तो मन उसीमें लीन हो जाता है—यह तप है।"

इस उपदेश से गणपति मुनीन्द्र की समस्त शंकाएँ दूर हुईं और मुमुक्षुओं के लिए सर्वदर्शन एवम् योग के एक सरल महामंत्र की घोषणा हुई। तभीसे महर्षि विख्यात हुए।

कुछ दिन के बाद भक्तों के आग्रह पर महर्षि पालितीर्थ के पास आकर रहने लगे। धीरे-धीरे यहाँ एक आश्रम बन गया। आश्रम की व्यवस्था तथा दिनचर्या अत्यन्त सुन्दर और सुविधा-जनक है। प्रायः आठ घण्टे महर्षि के साश्निध्य में रहने का अवसर मिलता है।

प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व प्रायः एक घण्टे तक महर्षि के सम्मुख वेदपाठ एवम् भजन होता है। ठीक सात बजे भोजन-गृह में महर्षि जाकर निर्दिष्ट स्थान पर बैठ जाते हैं। आश्रमवासी एवम् अतिथि अगल-बगल और सामने बैठते हैं। यहाँ बड़ा-छोटा राजा-रंक का भेद नहीं रहता। अपनी इच्छानुसार, जो जहाँ पाता, बैठ जाता है। जो-जो वस्तुएँ औरों को परोसी जाती हैं, वे अन्त में महर्षि के पत्तल में दी जाती हैं। ऐसा ही महर्षि का आदेश है। आठ बजे से ग्यारह बजे तक महर्षि बड़े कमरे में सोफे पर एक बड़े तकिए के सहारे बैठ जाते हैं और दर्शनार्थी तथा मुमुक्षु इर्द-गिर्द बैठते हैं। यहाँ भी भेद-भाव नहीं है। महर्षि या तो सहज समाधि में रहते हैं अथवा कुछ लिखते-पढ़ते रहते हैं। ११ बजे भोजन की घण्टी बजती है और भोजन के बाद २½ बजे तक विश्राम-काल रहता है। २½ से ५ तक तथा ६ से ७ तक महर्षि का सान्निध्य पुनः दर्शनार्थी को प्राप्त होता है। ७ बजे संध्या में भोजन की घण्टी होती है। इस प्रकार ७ बजे जलपान, ११ बजे एवं ७ बजे संध्या के भोजन के अतिरिक्त ५ से ६, ८ से ११, २½ से ५ तथा ६ से ७ तक दर्शकों एवं आश्रम वासियों को महर्षि के सत्संग का अवसर मिलता है।

यदि किसीको महर्षि से शंका-समाधान के उद्देश्य से कुछ पूछना होता है, तो वह खड़े होकर अंग्रेजी में पूछता है और महर्षि तामिल भाषा में समझाते हैं, जिससे योग्य दुभाषिया अंग्रेजी में समझा देता है।

महर्षि ने वसे तो कोई शिष्य नहीं बनाया। आप आडम्बर से दूर भागते हैं। मंत्र, तंत्र, योग-सिद्धियों इत्यादि की साधना को उत्तेजन नहीं देते। चमत्कारों को बिलकुल महत्त्व नहीं देते। फिर भी अनेक आध्यात्मिक साधक एवं मुमुक्षु भारतीय तथा विदेशी उनके निकट आते रहते हैं, उनसे प्रभावित होते हैं और बगैर दीक्षा पाये अपने को शिष्य समझने लगते हैं। इनमें हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, मुसलिम आदि धर्म के अनुयायी हैं—विदेशी एवं भारतीय हैं। अपने-अपने धम पर आस्था रखते हुए महर्षि के उपदेशानुसार आत्मिक-शोध में निरन्तर लीन रहते हैं। विदेशियों में हम्फ्रे, पालब्रण्टन, फ्रेडरिक-फ्लेयर (भिक्षु प्रज्ञानन्द) हैरी डिकमैन, राफेल हर्स्ट, मर्स्टन मीज (साधु एकरसा) रिचर्डसन, वर्नोसिया इदन, डाक्टर जंग, ग्रण्ट डफ, ओलिवर लाकुम्बी, विलियम स्पौलडिंग, मेजर चाडविक, इला मेलर्ट, इलेनर पौलनी नोयी, डन्कन ग्रीनलेस और भारतीयों में स्वामी सिद्धेश्वरानन्द, सर राधाकृष्णन, प्रिन्सिपल संजीवराव, कुपुस्वामी शास्त्री, मनुसूबेदार, दिलीप-कुमार राय, जस्टिस चन्द्रशेखर आयर, सरदार रुद्रराज पाण्डेय (नेपाल), सर अल्लपाचेटियर, सर सी० पी० रामस्वामी आयर, डाक्टर मोहम्मद सईद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पालब्रन्टन का "गुप्त भारत की खोज" (Search after Secret India) ने तथा अन्य पुस्तकों ने पाश्चात्य संसार का ध्यान विशेष रूप से महर्षि की ओर आकृष्ट किया।

महर्षि उपदेश नहीं देते, किन्तु उनके सम्पर्क में आने से ही मनुष्य अपने में आध्यात्मिक उन्नति पाने लगता है। मन में शान्त और प्रतिरोधहीन परिवर्त्तन होने लगता है। बड़ी निश्चिन्तता के साथ पूछने के लिए तैयार प्रश्न एक-एक करके हल होने लगते हैं। जिन समस्याओं और उलझनों से मुमुक्षु चिन्तित रहता है, उनका अन्त होने लगता है और विचारत्रस्त मस्तिष्क को शान्ति मिलती है। सारांश, जैसे पुष्प-पराग से सुगन्ध उठती है, वैसे ही महर्षि से आध्यात्मिक शान्ति की सुगन्ध निकलकर फैलती है, जिससे दर्शनार्थी मुमुक्षु

प्रभावान्वित हुए बिना नहीं रह सकते।

भारत में इस समय जितने महात्मा, सिद्ध और योगी हैं, उनमें महर्षि रमण का स्थान बहुत ऊंचा है। जीवनमुक्त होने के कारण प्रदर्शन की वृत्ति लेश-मात्र नहीं है। आश्रम की ओर से किसी-को प्रचार करने की अनुमति नहीं है। किसीको शिष्य नहीं बनाते। आपका विचार है कि मनुष्य को यदि गुरु करना है, तो स्वयं अपने ही अन्दर अपनी आध्यात्मिक चेतना में गुरु की खोज करे। महर्षि कहते हैं कि आत्मा ही गुरु है। उसीको खोजो। आप आत्मानुभूति के उपदेष्टा हैं, समाजसेवा पर जोर देते हैं और सेवामार्ग में आगे बढ़ने के बाद ही एकान्त में साधना करने की सलाह देते हैं। आपका विचार है कि भगवान् में दृढ़-विश्वास ही सच्चा आसन है और कर्त्तव्य-पालन ही वास्तविक पूजा है। एकान्त मनुष्य के चित्त की वृत्ति पर निर्भर है। सांसारिक वस्तुओं की ममता में फँसे हुए मनुष्य को निर्जन अरण्य में भी एकान्तता का अनुभव नहीं होता; किन्तु संसार के झमेलों में रहकर भी शान्त चित्तवाले व्यक्ति को निर्जनता का बोध होता है। आसक्तिहीन चित्त के लिए हर जगह एकान्त है। जो अवस्था, वाणी एवं विचार को भी अतिक्रमण करती है, वह मौन अवस्था है। यही ध्यान का रूप है। यह अवस्था चित्त की तीव्रता के सम्पूर्णतया अभाव होने पर ही प्राप्त होती है। चित्त का दमन ही ध्यान है। गम्भीर ध्यान ही अनन्त वाणी है। मौन ही भाषा का अविरोध प्रवाह है। उपदेश ज्ञान-प्रसार का एक साधारण तरीका है। यह सम्यकरूप से मौन द्वारा ही सम्भव है; अर्थात् मूक भाषा द्वारा ज्ञान का वितरण अधिक प्रभावशाली होता है। पवित्र सन्तों के सत्संग का जैसा मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है, वैसा व्याख्यान का नहीं। इस कथन की वास्तविकता का आभास हमें महर्षि के साथ सात दिनों के सत्संग से मिला।

यदि मनुष्य ईश्वर का ध्यान करे अथवा अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान करे, दोनों में भेद नहीं है। क्योंकि दोनों की परिणति (मकसद) एक ही है। ईश्वर-रूप हुए बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अपने शुद्ध-स्वरूप में अनन्त, अटूट और स्वाभाविक रूप से मग्न रहने की अवस्था होना है। अपने स्वरूप में लीन होने के पूर्व अपने स्वरूप में प्रेम होना आवश्यक है। ईश्वर ही वह शुद्ध स्वरूप है। अपने स्वरूप का

प्रेम ईश्वर का प्रेम है और, वही भक्ति है। ज्ञान और भक्ति एक ही वस्तु है। एक ही विचार में भिक्षा का लय रहना जप है। जप का एकमात्र उद्देश्य चित्त में उठनेवाले अनेक विचारों का दमन है। जप से ध्यान होता है, जिसकी परिणति आत्मानुभूति अथवा ज्ञान में होती है। नाम-जप में सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मभाव से करना और अनन्यभाव से आत्मसमर्पण अनिवार्य है। आत्म-समर्पण के बाद ही ईश्वर का नाम निरन्तर मनुष्य के चित्त में व्याप्त रहता है। ज्ञान और पूर्ण आत्म-समर्पण में भेद नहीं है। इस पूर्ण आत्म-समर्पण में सब कुछ ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम व्याप्त है।

आत्मा ही गुरु है अतएव ईश्वर गुरु का रूप धारण कर सत्य की शिक्षा देता है और अपने सत्संग से भक्त के चित्त को पवित्र कर देता है। भक्त का चित्त दृढ़ हो जाता है और अन्तर्मुख होने में समर्थ होता है। ध्यान द्वारा यह और भी परिष्कृत हो जाता है। और, चंचलता शान्त हो जाती है। वह शान्त विस्तार ही आत्मा है।

गुरु एक ओर चित्त को अन्तर्मुखी बनाता है और दूसरी ओर चित्त को आत्मा की ओर आकृष्ट करता है तथा चित्त को शान्ति प्राप्त करने में सहयोग देता है। यही गुरु-कृपा है। गुरु, ईश्वर और आत्मा में कोई भेद नहीं है। ईश्वर जो अन्तरस्थ है, प्रेमी भक्त पर दया करके भक्त की चित्तवृत्ति के अनुसार अपने को प्रकट करता है। भक्त समझता है कि गुरु के रूप में ईश्वर मनुष्य है और उसके साथ मनुष्य का-सा सम्बन्ध रखना चाहता है। किन्तु गुरु, जो स्वयं ईश्वर ही है, भक्त की गलतियों को आत्मबोध द्वारा सुझाते हुए सन्मार्ग पर आत्मानुभूति की अवस्था प्राप्त करने तक चलाता रहता है। अहम् भाव बहुत बलवान हाथी के सदृश है और उसका दमन सिर्फ शक्तिशाली शेर द्वारा ही हो सकता है। वह गुरु ही है, जिसके दृष्टिमात्र से अहम् भाव विलीन होने लगता है। अहम् भाव की शान्ति में ही मनुष्य की शोभा है और इसे प्राप्त करने के लिये हमें आत्म-समर्पण करना होगा। तभी ईश्वर समझेगा कि वह शिक्षा पाने का अधिकारी है और मार्ग प्रदर्शन करेगा। जब पूर्ण आत्मसमर्पण हो जाता है, आत्मभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है, तब न शोक रह जाता है और न दुःख ही।

आत्मानुभूति की धार्मिक शक्ति समस्त गुप्त (जादू की) शक्तियों से बढ़कर

है। आत्मानुभूति से आनन्द होता है, जो शान्ति की परिणति है। चित्त के उपद्रव के अभाव में ही शान्ति हो सकती है और उपद्रव चित्त में उठते हुए विचारों के कारण ही होता है। जब चित्त की वृत्ति बन्द हो, तब पूर्ण शान्ति होगी। जबतक मनुष्य चित्त को पूर्णतया दमन नहीं कर देता, वह शान्ति प्राप्त कर ही नहीं सकता और न सुखी हो सकता है। यदि मनुष्य स्वयं सुखी नहीं है, तो दूसरों पर सुख की वर्षा करने में कैसे समर्थ हो सकता है? जिस सन्त की चित्तवृत्ति पूर्णतया शान्त है, वह अपनी आत्मानुभूति से दूसरों को सुखी बना सकता है।

महर्षि के उपदेश का केन्द्र "मैं" की खोज है। पहले "मैं" को जानो। फिर तुम सत्य को जान सकोगे। तुमको केवल एक ही काम करना है। तुम अपने भीतर देखो और तुम्हें अपनी सारी उलझनों का जवाब मिल जायगा। आत्मा के विषय में गम्भीर विचार और सतत् ध्यान करो, प्रकाश मिलेगा।

जब मन आत्म-स्वरूप से बहिर्मुख होता है, तब जगत भासमान होता है। इस प्रकार जब जगत दीखता है, तब आत्मस्वरूप दिखाई नहीं देता और जब आत्मस्वरूप का दर्शन होता है, तब जगत नहीं दीखता। अपने स्वरूप की विचारणा करते करते मन निजी स्वरूप में पलट जाता है। वस्तुतः मन का निजी स्वरूप आत्मस्वरूप ही है। मन हमेशा किसी स्थूल वस्तु का आश्रय लेकर ही टिक सकता है। वह अपने आप नहीं टिक सकता। मन को ही सूक्ष्म शरीर वा जीव कहा जाता है। इस देह में जो 'मैं" रूप से पैदा होता है, वही मन है। हृदय में अहम् विचार का प्रथम स्फुरण होता है, अतएव हृदय ही मन का जन्मस्थान है। मन में उठनेवाले तमाम विचारों में अहम् विचार ही प्रथम विचार है।

"मैं कौन हूँ?"—की विचारणा द्वारा निश्चय ही मन का लय होता है। जिस प्रकार चिता की अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला बांस अन्त में खुद भी जल जाता है, उसी प्रकार अहम् विचार दूसरे सब विचारों का नाश करके स्वयं नष्ट हो जाता है। 'मैं कौन हूँ' की विचारणा की जाय, तो मन अपने जन्मस्थान में लौट जाता है और साथ ही उठा हुआ विचार भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अपने जन्मस्थान में स्थिर होने की मन की शक्ति बढ़ती जाती है। जब सूक्ष्म मन, बुद्धि और इंद्रियों द्वारा बहिर्मुख होता

है, तब स्थूल नामरूप दृश्यमान होते हैं। जब मन वहिर्मुख होने नहीं पाता और हृदय में स्थिर हो जाता है, तब वह अहंमुख वा अन्तर्मुख मन कहलाता है। जब मन हृदय के बाहर भटकने लगता है, तब वह वहिर्मुख मन कहा जाता है। यदि मन हृदय में स्थिर हो जाय तो "मैं", जो सब विचारों का मूल है, अदृश्य हो जाता है। जिस दशा में अहम् विचार का लेश भी नहीं उसे स्वरूप-स्थिति कहते हैं। वास्तव में वही मौन कहलाता है। मौन की दशा का दूसरा नाम ज्ञानदृष्टि है और उसका अर्थ है आत्म-स्वरूप में मन का लय करना। इसके विपरीत दूसरों के विचारों को जानना, तीनों काल का ज्ञान होना, दूर देशों की घटनाओं को जान लेना आदि को ज्ञान-दृष्टि नहीं कह सकते। केवल आत्म-स्वरूप ही सत्य है।

मन का लय करने के लिए आत्म-विचार से अन्य कोई योग्य उपाय नहीं है। प्राणायाम से भी मन का निग्रह होता है। परन्तु जब तक प्राण का निग्रह जारी रहता है, तभी तक मनोनिग्रह टिकता है। जब प्राणायाम बन्द किया जाता है, तब मन वहिर्गामी होकर वासनावश हो जाता है और इधर-उधर भटकने लगता है। मन एवं प्राण का जन्मस्थान एक ही है। विचार ही मन का प्रथम विचार है और वही अहंकार है। मनोनिग्रह करने में प्राणायाम सहायक होता है; परन्तु इसके द्वारा मनोनाश नहीं हो सकता।

प्राणयाम की तरह मूर्तिध्यान, मंत्र-जप और आहार-नियम भी सहायक हैं। मूर्त्ति ध्यान और मंत्र-जप से मन एकाग्रता को प्राप्त होता है। नियमों में सबसे बड़ा सात्विक मिताहार का नियम है। इससे मन में सत्वगुण की वृद्धि होती है, जो आत्म-विचार में सहायक है। ज्यों-ज्यों स्वरूप ध्यान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वासनाएँ नष्ट होती जाती हैं। अतएव स्वरूप ध्यान में ही एकाग्र होने का अभ्यास निरन्तर जारी रखना चाहिए।

जब तक मन में विषय-वासना भटक रही हों, तब तक "मैं कौन हूँ" की विचारणा आवश्यक है। किसी चीज की आशा न करना वैराग्य वा आशा त्याग है। आत्मस्वरूप का त्याग न करना ज्ञान है। वास्तव में वैराग्य और ज्ञान एक ही है। प्रत्येक साधक वैराग्य को धारण करके स्वस्वरूप के अंदर गहरी डुबकी लगाकर आत्ममुक्ति पा सकता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति न

होने तक यदि आत्मस्वरूप का निरन्तर स्मरण चालू रखा जाय, तो वही एक साधन काफी है।

आत्म-विचार के अलावा अन्य जो विचार पैदा हों, उनको जरा भी जगह न देते हुए, आत्मनिष्ठा में मग्न होकर रहना अपने-आपको ईश्वरार्पण करना, ईश्वर की शरणागति है। ईश्वर पर चाहे कितना भी भार रखा जाय, वह सारे बोझ का वहन करता है। अतः इस प्रकार की चिन्ता हम क्यों करें?

जो सुख कहलाता है, वह आत्म-स्वरूप ही है। सुख एवं आत्मस्वरूप अलग नहीं है, आत्म-सुख ही एकमात्र सत्य है।

शुभ मन और अशुभ मन—इस प्रकार के दो मन नहीं हैं; मन एक ही है। सिर्फ वासनाएँ शुभ और अशुभ, इन दो प्रकारों की होती हैं। दूसरे लोग चाहे कितने ही बुरे मालूम हों, फिर भी उनका तिरस्कार मत करो, राग द्वेष दोनों का त्याग करो, मन को सांसारिक विषय में अधिक मत बहाओ। जहाँ तक हो सके, दूसरों के कार्य में दखल मत दो।

यदि अहंकार जाग उठे, तो उसके साथ ही सब कुछ जाग उठता है। यदि अहंकार का नाश हो जाय, तो सब कुछ विलीन हो जाता है। हमारा बर्ताव जितना अधिकाधिक विनम्र होगा, उतना अधिकाधिक हमारा श्रेय होगा। मन वश में आ जाय, तो फिर चाहें कहीं भी हम रह सकते हैं।

बन्धन में कौन है?—इस बात का विचार करके अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानना ही मुक्ति है। मन को सदा आत्मा में टिकाये रखना आत्मविचार कहलाता है और अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप की भावना करना ध्यान है। "मैं कौन हूँ"—की विचारणा करनी चाहिए। वास्तव में अपने-आपको ज्ञान-नेत्र द्वारा ही जानना चाहिए।

सज्जन के रूप में जन्म लेना आकस्मिक घटना है; किन्तु सज्जन की हैसियत से मरना एक महान् सफलता।

सुभाषित

नौ कवितायें

१

हमारे 'द्विज' बिहार में कविता की नई धारा के अग्रदूतों में रहे हैं। किन्तु, उनकी रचनाओं से इधर हिन्दी-संसार सर्वथा वंचित रहा है। क्यों? 'पिंजरे का पंछी' में उन्होंने इस 'क्यों' का उत्तर ही नहीं दिया है, अपनी मर्मव्यथा भी प्रगट की है! क्या 'नील गगन के' उनके 'साथी संगी' आशा कर सकते हैं कि वह एक बार फिर इस 'पिंजरे' के संसार' से बाहर निकलकर अपनी 'चहक' से साहित्याकाश को मुखरित करेंगे?

पिंजरे का पंछी

द्विज

मगन चिरैय्या था वन का मैं,
कुछ दानों पर जा टूटा!
सोने के पिंजड़े ने मेरे
तन-मन का सरबस लूटा!
अब तो रटना ही है केवल,
खुलकर गाना भूल चुका!
बँधा हुआ दारुण सच से हूँ,
सब सपनों का सँग छूटा!

नील गगन से साथी-संगी,
रो-रो मुझे पुकार रहे!
बाहर निकल चहकने को
कह, हाय मुझे वे मार रहे!
किन्तु, न मुझमें, या कि उन्हीं में
देख रहा मैं दम इतना—
जिससे मेरे लिए न आगे,
पिंजरे का संसार रहे!

यह छोटा संसार मोह का,
मायामय सम्मानों का—
दिल का नहीं, गीत जो मुझसे,
सदा गवाता दानों का!
अंगा गया मुझको, पर मेरा,
मन भी है क्या मगन यहाँ?
प्राण पिघल जाते जिससे,
वह गान बना है कानों का!

२

माइकल मधुसूदन ने 'मेघनादवध' काव्य की रचना करके कहा था — 'मेघनादे जयडालि : लक्ष्मणेर मुखे कालि !' 'प्रभातजी ने अपने 'कैकेयी' काव्य में कैकेयी का चित्रण उसी प्रकार एक विलक्षण ढंग से किया है। यहाँ कैकेयी का नैश चिन्तन देखिये—

कैकेयी

प्रभात

रजनी की छाया दीपोज्वल
जग-मग करता था राज-महल
कैकेयी का सुख शयन-कक्ष
लज्जित सुर-पुर जिसके समक्ष
बन अपनी ही नीरव उपमा
शोभा को देता था सुषमा
सज्जित, सुरभित सित शय्या पर
लेटी थी रानी, शिथिल अधर
दृग खुले, पुतलियाँ अविचल-सी
नव-नव विमुद्र नीलोत्पल-सी
संगीत नहीं—था शून्य व्याप्त
मानों उत्सव चुप—हो समाप्त
गुंजित-सा निर्मम वर्त्तमान
आतप के जलते नभ-समान
वह वर्त्तमान जिसका प्रतिक्षण
अभिशाप बन गया था भीषण
लेटी थी रानी, नींद कहाँ
मन दौड़ रहा था यहाँ वहाँ

विक्षिप्ता-सी वह लगती थी
चिनगारी एक सुलगती थी
बस, यही प्रश्न था—राह किधर
बहता है काल प्रवाह किधर
है कहाँ छिपा मानव-प्रकाश
कल्याण-कुसुम का विमल हास
क्यों आँसू चुपके बहते हैं
क्यों भाव मौन यों रहते हैं
करुणा को क्यों अंगार मिला
उत्पीड़न का उपहार मिला
क्यों मिला ध्वंस, निष्ठुर ज्वाला
मानवता को विष का प्याला
जीवन-मंगल की परिभाषा
या कोई तिरस्कृता आशा
क्यों मौन गगन, क्यों मौन दिशा
नक्षत्र मौन क्यों मौन निशा
रे, क्यों गति-हीन प्रभंजन हैं
क्यों बन्द हाय ! युग-गर्जन है

युग-धर्म सो रहा आज कहाँ
गौरव-रक्षा के साज कहाँ
मस्तिष्क न देता था उत्तर
रानी की नौका बीच भँवर
लहरों पर लहरें आती थीं
भीषण रव कर टकराती थीं
लहरों पर लहरें आती थीं
घन-माला-सी लहराती थीं
कुछ क्षण यह क्रम, फिर परिवर्त्तन
दल - के - दल उतरे निद्रा-घन
काले-काले पर फैलाये
रानी की पलकों पर छाये
वह भोलाभ ला सा मुखड़ा
जिसपर चिंता का चाँद जड़ा

था नीरव या कुछ बोल रहा
तम-पट भविष्य का खोल रहा
हिलते थे पल्लव अधर कभी
बन गीत-प्रतिध्वनि, लहर कभी
अलि-अलकें या सर्पिणीशक्ति
चुप घेर क्रांति-आनन सभक्ति !
उर खोल-खोलकर शांत हुआ
पर काल-चक्र कब क्लान्त हुआ
कर भाराक्रान्त अचल चल को
भू-मंडल और ख-मंडल को
चलता ही रहता वह निर्भय
हो हार किसी की या कि विजय
क्या पूर्ण प्रलय या नित्य प्रलय
वह चलता ही रहता निर्भय

३

हाँ, प्रतिमायें तो बन गई हैं--किन्तु उनमें दम कहाँ, जान कहाँ ? उनमें प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिये—किन्तु करे कौन ? कलाकार हुंकार कर रहा है—'विज्ञान काम कर चुका, हाथ उसका रोको !' हाँ, हाँ, प्रयोग के लिए ही सही, 'कला-कल्याणी' को भी एक अवसर दिया जाना चाहिये। 'लोहे की कड़ियाँ' तो बेकार साबित हो चुकीं—'शबनम की जंजीरों' को भी क्यों नहीं आज़मा देखते ?

शबनम की जंजीर

दिनकर

रचना तो पूरी हुई; जान भी है इसमें ?
पूछूँ जो कोई बात, मूर्त्ति बतलायेगी ?
लग जाय आग यदि किसी रोज देवालय में,
चौंकेगी या यह खड़ी-खड़ी जल जायेगी ?

ढाँचे में तो सब ठीक-ठीक उतरा लेकिन,
बेजान बुतों के कारीगर ! कुछ होश करो।
जब तक पत्थर के भीतर साँस नहीं चलती,
सौगन्ध इसीकी तुम्हें, न तुम संतोष करो।

भर सको, अगर, तो प्रतिमा में चेतना भरो,
यदि नहीं, निमंत्रण दो जीवन के दानी को;
विभ्राट, महाबल जहाँ थके-से दीख रहे,
आगे आने दो वहाँ क्षीणबल प्राणी को।

तैरता हवा में जो, वह क्या भारी होगा ?
सपनों के तो सारथी क्षीणबल होते हैं;
संसार फूल से अपने को भूषित करता,
ये गन्ध-भार अपनी आत्मा में ढोते हैं।

हाँ, सपनों का सारथी, यान जिसका कोमल
आँखों से ओझल हृदय-हृदय में चलता है;
जिसके छूते ही मन की पलक उघर जाती,
विश्वास भ्रान्ति को भेद दीप-सा बलता है।

सपनों का वह सारथी, रात की छाया में
आते जिसकी श्रुति में संवाद सितारों से ;
सरिताएँ जिससे अपना हाल कहा करतीं,
बातें करता जो फूलों और पहाड़ों से।

पपड़ियाँ तोड़ फूटते जिन्दगी के सोते
रथ के चक्के की लीक जहाँ भी पड़ती है;
प्रतिमा सजीव होकर चलने-फिरने लगती,
मिट्टी की छाती में चेतना उमड़ती है।

छेनी-टाँकी क्या करें ? जिन्दगी की साँसें
लोहे पर धरकर नहीं बनाई जाती हैं;
धाराएँ जो मानव को उद्वेलित करतीं,
यंत्रों के बल से नहीं बहाई जाती हैं।

विज्ञान काम कर चुका, हाथ उसका रोको,
आगे आने दो गुणी ! कला कल्याणी को।
जो भार नहीं विराट महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीणबल प्राणी को।

मानव-मन को बेधते फूल के दल केवल,
आदमी नहीं कटता बरछों से, तीरों से;
लोहे की कड़ियों की साजिश बेकार हुई,
बाँधो, मनुष्य को शबनम की जंजीरों से।

४

हिमालय की सारी हिमराशि गलकर, जल बनकर ताप-तप्त वसुधा को आर्द्र-शीतल बनाने को आकुल-व्याकुल है—किन्तु, यह गोमुखी ! स्फटिक-शिलाओं से बनी 'उज्वल कारा' सिद्ध हो रही है। गोमुखी, यह तुम्हारे अनुरूप नहीं ! और यह भी याद रखने की बात है—'रोक सकोगी तुम गंगा की धारा ?'

गोमुखी

श्री जानकीवल्लभ शास्त्री

(१)

स्फटिक शिलाओं की न बनो तुम उज्ज्वल, निर्मल कारा,
अरी गोमुखी, विकल फूटने को गङ्गा की धारा !
झञ्झा-सा आवेग प्रकम्पित करता है प्राणों को,
गगन झुका आता भरने को अन्तर के गानों को !

दीपशिखा बँधती अञ्चल से, आतप नत छाया से,
चञ्चल सांस आस से बँधती, सुरभि मुकुल काया से,
दिन का तेज मलिन सन्ध्या से, नखत-प्रकाश अमा से,
हृदय भक्ति से, विनय शक्ति से, बँधता प्रेम क्षमा से,

बाँधे बँधता नहीं, किन्तु है पावस का आसार,
कितना काला पड़ जाता है व्यर्थ व्योम-विस्तार !
बाढ़ प्रगाढ़ अचल पुलिनों को छाप छलक जाती है,
कभी सिन्धु की गहराई भी साफ झलक जाती है ?

जिसे ज्वार कहते, वह उसकी उभड़ी हुई अतलता,
तुङ्ग तरङ्ग - भङ्गि में बदली क्षुब्ध हुई निश्चलता !
अन्तरिक्ष - शिर - भासित, षोड़श - कला - विलासित इन्दु,
सच मानो, है महासिन्धु का एक क्षुद्रतर बिन्दु !

उसे अपने को क्यों ललके वह अगाध - उर - प्यार ?
जड़ बन्धन - उन्मोचन के हित आता चेतन ज्वार !
पाषाणों का द्वार खोल दो —प्रिय प्राणों की कारा,
अरी गोमुखी, विकल फूटने को गङ्गा की धारा !"

(२)

विहगों की पांती समीप आ सान्ध्य-प्रभाती गाती,
अँगड़ाई लेकर सुषुप्त प्रतिभा मेरी जग जाती,
कसमस करती, अन्ध बन्ध-कड़ियाँ झकझोर झुलाती,
तिमिर क्रोड़ में मिहिर-किरण को हो किस भाँति भुलाती ?

विज्जु-छटा - सी कौंध, घटा - सी उमड़-घुमड़ कर छाती,
—एक बार अपनी सत्ता को मैं सार्थक कर पाती !
वाष्पायित उच्छ्वास-राशि आकण्ठ उमग कर आती !
—रेणु-गर्भ में बीज छुपाए माटी मुझे बुलाती !

युग-युग का प्यासा मरु रखता मुझसे ही घन-आशा,
जल-तप घुटती रेत माँगती मुझसे शीतल भाषा,
यह उन्मथित लालसा देगी मुझे चैन से रहने ?
आलोड़ित वासना प्रताड़ित पीड़ाओं को सहने ?

वंश-वंश के संघर्षण से धधका दावानल है,
धुआँ रही, लो, सघन बनानी, क्या स्फुलिङ्ग पिङ्गल है !
चट-चट करता क्षार चिता का, कहीं दबी है आग,
छोड़ो, उसे बुझाने जाने दो, जलता अनुराग !

जलने दूँ सुहाग वसुधा का ? जलने दूँ शृंगार ?
जलने दूँ वसन्त का वैभव—कुसुम-सुरभि-संभार ?
और रहूँ मैं बंद ? रहे यह कुत्सित काली कारा ?
अरी गोमुखी, रोक सकोगी तुम गङ्गा की धारा ?

५

जो कोमल कान्त पदावली के गीत गाता रहा; वह 'रुद्र' भी 'विज्ञान-दक्ष-यजमान' के 'विश्वमेध' की कल्पना से विचलित होकर अपनी 'कवि-रानी' को पुकारता हुआ नये छंद के बंध जोड़ रहा है ! देखिये, तो—

शब्दवेध

रुद्र

विज्ञान दक्ष-यजमान; नध रहा विश्वमेध :
तब, यह किसका सन्धान ? सध रहा शब्दवेध !—
'मन बन्धन माँग रहा, मन के बन्धन तोड़ो ;
यह जड़ बन्धन बेकार; तार तोड़ो, जोड़ो ।'

× × ×

तुम आज बहुत दिन पर आईं, मन की रानी !
तुम आज बहुत दिन पर लाईं मन की बानी ।

नई धारा

मेरे जीवन की सरिता का फिर खुला स्रोत ;
फिर चली धार, तिर चले तीर-से भाव-पोत ।

× × ×

मरु में जैसे अन्तःसलिला की धार लीन,
स्वर सरिता थी हो गई बीच में ही विलीन ;
मैं बालू का था ढेर, ढेर हो रहे प्राण ;
व्याकुल थे वर्षण की तृष्णा से बिन्दु-बाण ।
तुम सहसा श्याम घटा बन छाईं, पक्षि-प्राण !
उमड़ा-उमड़ा अन्तस्, पावस का आसमान ।
मरु के तप ने तुमको पाया, ज्यों प्रथम सिद्धि ;
तरु ने तुमसे पाया जीवन ; जीवन, समृद्धि :
तुम नाच उठीं झमझम बरसा सावन-भावन ;
मन थिरका दृग-शत मोर, प्राण स्वाती-घन-घन :
काजल की घनी बहनियों में कजली का मन ;
'पी कहाँ ?' पपीहा बोल उठा, उन्मन बन-बन :
'पी कहाँ ?' टेर—पियराए आमों के यौवन—
घन-घन घन-घन घनघना उठा, आकाश सघन—
'पी यहाँ, यहाँ, रे यहाँ, प्राण ! हृन्नयन खोल ;
ज्ञानान्ध ! प्रेम की लाठी ले, अन्तस् टटोल ;
आँखों के मन की बाढ़ देख, जल ही जल है !
दिव्याक्ष ! खोल आँखें, गवाक्ष अन्तस्तल है ।'

× × ×

मुसकाया फूलों का आनन, कलिका-कानन ;
लहराया अम्बर नील मेघ-गागर का मन ;
सरसाया मधुबन का आँगन, तन-मन भींगा ;
भरमाया मेघ, धरा का धूलि-बसन भींगा ;

दूर्वा की पहली लाज हुई पानी-पानी ;
निर्झरिणी दौड़ पड़ी शिखरों से, दीवानी ;
चल पड़े हंस-निर्झर शैलों से सैलानी ;
जल-सीकर झंकृत झाँझ, चली झंझारानी :
रोमाञ्च गुलाबों के तन में, काँपे कदम्ब ;
लतिकाओं का अंचल सरका, सिहरे कलम्ब ;
मुक्ता-मणियों के रास, हार-हीरक टूटे ;
राधा के बन के गान, कंठ-कीचक फूटे :
अलका-वियोगिनी बीन, श्वास बन गए तार ;
साधनालाप, स्थायी वियोग, अन्तरा ज्वार ;
आहों में बोला षड्ज; दाह में ऋषभनाद ;
पंचम में आकुल कण्ठ मूक पिक का विषाद ;
मध्यम में हूक, जगी कोमल गान्धार याद ;
धैवत गुणवादी चित्त, युक्त अनहद निनाद ;
पीड़ा मूर्धन्य हुई, चित्कार उठे निषाद ;
उन्माद मेघ-मल्हार, प्रवासी-प्रियाह्लाद :
तुम गगन-रन्ध्र में रागीं, रागी बना त्याग ;
खाण्डव के भव में नव-मरन्द-परिमल-पराग ;
रसमयी रसा के रोम-रोम में अभिनन्दन ;
हरिदाभ दाभ उन्नयन, अर्चना के वन्दन :
फिर, राम-शृंग पर घननाद उतरे विमान ;
बूँदों के बन्दनवार टँगे छाया-वितान ;
सुरधनु का मण्डप तना, सुधर्मा की हलचल ;
हलचल-हलचल सब ओर, पवन चंचल चलदल ;
कानाफूसी हो रही—पात से पात बोल
अलकापति के उद्दण्ड दण्ड को रहे तोल ;

आंखों-आंखों संकेत चले, बिजली चमकी ;
किन्नरियों की स्वरपरता, तत्परता तमकी :
दब्बी दुलार उन्मुक्त प्यार का बना छंद ;
धृतपवनपक्ष उड़ चले यक्षधावन अमंद :

× ×

निर्ममता का हो गया प्रेम से प्रतीकार ;
रीझे कुबेर; जड़ता पर विजयी कलाकार ।

× × ×

ओ कलाकार की कल्याणी, कवि की रानी !
तुम भूल नहीं पाईं मुझको, मेरी वाणी !
तुम ऐसे आईं आज, कहूँ कैसे आईं—
जीवन के शरन्नयन में जैसे सरसाईं !
नीलम के दरपन में पूनम की परछाईं !
किरनों की धरकर डोर लहर पर लहराईं !!

× × ×

आओ, मेरी जीवनधारा, आओ, आओ ;
आओ, मेरे सागर में प्राण ! समा जाओ ;
आओ, मेरे अन्तःपुर की अन्तर्वाणी !
आओ, मेरी युग-युग की जानी-पहचानी !
तुम 'मैं' हो जाओ, प्राण ! और मैं 'तुम' होऊँ ;
तुम चंचलता, मैं जीवन की जड़ता खोऊँ !

संसार नवीनता की खोज में व्यस्त है—किन्तु, क्या वह पाता है उसे ? और, संसार में एक प्राणी ऐसा है, जो नवीनता-सागर का मस्त मीन बना है ! 'नारायण' की इन पंक्तियों में आप उसे पाइये—

कवि की चिन्ता है चिर नवीन

नारायण

जग को नवीनता की चिन्ता
कवि की चिन्ता है चिर नवीन ।

सांसों का खग वय के नभ में
प्रति यति से गति ले बढ़ जाता
पर तोल रहा है अनुभव के
दिग्भ्रम का श्रम घटता जाता
जग को मिट्टी की ही ममता
पर कवि अम्बर तक में विलीन ।

सुषमा की कलियाँ खिलती हैं
कोमल अंगों के वृन्तों पर
पर गुण पराग बन उड़ जाता
सुन काले अलि का स्वार्थी स्वर
जग को काँटों का ही गौरव
पर कवि सौरभ के सी[illegible]धीन ।

कल्पना नृत्य में है बेसुध
चिन्तना मीड़ पर तनी हुई
भावना टेक दुहराती है
प्रौढ़ता मूर्च्छना बनी हुई
जग सौ तारों पर काँप रहा
कवि साध रहा है एक बीन ।

मिट्टी की काया से दीपक
सोने की लौ है उगल रहा
मसि-स्नेह, कलम की बाती से
व्यतिक्रम के तम को निगल रहा
जग को यदि उकसाने का सुख
तो कवि भी जलने में प्रवीन ।

जीवन की यह सीमित सरिता
जा रही मृत्यु के सागर में
संघर्ष लहर - पर - लहर मार
बालू भर देना गागर में
जग खड़ा काठ बनकर तट पर
पर कवि धारा का चपल मीन ।

दे रहा चुनौती प्रतिभा को
पग - पग पर वैभव का गुमान
अधिकार अधर पर आंधी धर
दे रहा कला को दया दान
जग लूट-लूट कर है महान
कवि लुटा-लुटाकर हुआ हीन ।

देखिये, वह एक पंछी उड़ा जा रहा है—अकेला, एकाकी! आँधी से लड़ता, अंधकार से लड़ता, महाकाल से लड़ता—वह, अलबेला, अकेला पंछी कल्पना के पंखों पर उड़ा जा रहा है, उड़ा जा रहा है!

अकेला पंछी

कन्हैया

दूर गगन में उड़ता जाता
पंछी एक अकेला
गरज रही हैं क्रुद्ध घटाएँ
भय से कम्पित दिग्बालाएँ
क्षिति की मलिन अपांग रेख पर
करतीं छाया-नृत्य बलाएँ
छाई भीषण भीति मृत्यु की
चारों ओर उदासी गहरी
इस दुर्दिन में पंख पसारे
झेल मुदित अगणित बाधाएँ—
दूर गगन में उड़ता जाता
पंछी एक अकेला

कुटिल काल के कोप-ज्वाल से
अन्धकार के अंध जाल से
क्रुद्ध सर्वभुक रक्त-पिपासित
कापालिक-निभ नाश-व्याल से—
आतंकित होकर सब साथी
छिपे घोसलों में अपने द्रुत
किन्तु एक मस्ताना पंछी
लड़ता जाता महाकाल से
उसके चारों ओर लगा है
अवसादों का मेला
दूर गगन में उड़ता जाता
पंछी एक अकेला

वह मस्ती के गीत सुनाता
मन का तन्मय प्यार लुटाता
बाधाओं के बीच विहँसकर
नवजीवन का राग जगाता
उसकी अन्तर्ध्वनि से पल-पल
मुखरित है निस्पन्द ख-मण्डल
उसके स्वर में चंचल स्मृतियों
का उन्मद सागर लहराता
उसे नहीं टुक चिन्ता—
यह दुर्दान्त नाश की बेला
दूर गगन में उड़ता जाता
पंछी एक अकेला

उसका अद्भुत तेज देखकर
विस्मित हैं दिग्पाल परस्पर
लगता है, वह उड़ता जाता
क्षिप्र वेग से उठा बवण्डर
वह मस्ती का पुतला पंछी
संवाहक है नई प्रगति का
गाता मंगल गीत मुदित मन
कुटिल विश्व का दाह पचाकर
वह न कभी भी सह सकता है
पौरुष की अवहेला
दूर गगन में उड़ता जाता
पंछी एक अकेला

कल्पना को रूप चाहिये; किन्तु कल्पक का मूर्तिकार बनना क्या आसान है? मानव और विधाता के बीच सात आसमान हैं; किन्तु, वह भी क्या धरती पर चुपचाप बैठनेवाला जीव है? "हाँ, रूप! रूप! बंधन अरूप का आज तोड़ना ही होगा—"

कल्पना और रूप

रामसंजीवन

यह अगति! बाल-कविता रोती, रख पाती सम्मुख चरण एक;
रागिणी विकल बज उठने को धर पाती कोई कहीं टेक।
रह-रह उठती तूलिका कि कोई छवि कागज पर दे उतार;
कर में ले-ले मृत्तिका विफल रह-रह जाता है मूर्तिकार।

है पंचतत्वों पर हाथ किंतु है सर्जन रुका विधाता का;
है शब्द सामने, किंतु अर्थ है स्पष्ट नहीं व्याख्याता का।
माली फूलों में ठिठक रहा, किस तरह गूँथ दे हार एक;
यह पिण्ड पड़ा कबसे है, कोई दे-दे तो आकार एक!

है ठौर कहाँ सागर के मंथन से उद्भूत हलाहल का?
वे चरण कहाँ हैं, जिन्हें झुके यह उन्नत भाल हिमाचल का?
शिव-जटा-जूटिनी गंगा को भू पर बतलावे राह कौन?
युग-युग की दग्ध बनी मिट्टी का हर ले अंतर्दाह कौन?

मारे-मारे फिरते हैं अणु-परमाणु, विकल विद्युत्-कण हैं;
बह रहे अवश-से धारा में, क्षण-क्षण मिटते जाते क्षण हैं?
लो, अनस्तित्व ही नाच उठा, पर नाच उसे क्या कहते हैं?
जिसमें सुन्दरता नहीं, न शिव, फिर साँच उसे क्या कहते हैं?

× × × ×

रूप ! रूप ! भव की विभूतियाँ रूप-हेतु चीत्कार कर रहीं ;
रूप ! रूप ! वे पड़ अरूप-बंधन में हाहाकार कर रहीं ।
हाँ, रूप ! रूप ! कल्पने, रूप की जननि, खोल निज द्वार आज ;
है पड़ा देख तो बंधन में तेरी छाती का प्यार आज !

हाँ, रूप ! रूप ! बंधन अरूप का आज तोड़ना ही होगा ;
कल्पने, रूप-संबंधों को अविलंब जोड़ना ही होगा ।

६

ज्वार-भाटा—ज्वार के जोर में भटे की आशा ! कवि-किशोर की ये पंक्तियाँ क्या ज्वार को जोरदार चुनौती नहीं दे रही हैं ?

ज्वार-भाटा

किशोर

एक आशा पर टिकाये साँस, चलता ही रहूँगा !

देखकर लुटते चमन को
कोकिला गाये-न-गाये !
सूखते तरु सींचने को
घन-घटा छाये-न-छाये !

पर किसी पागल भ्रमर की
गुनगुनाहट के लिए मैं

कंटकों की गोद में निर्भीक पलता ही रहूँगा !

मुस्कराता भी कभी तो
नयन का हर कोर होगा !
बीत जायेगी विरह की
रात, सुख का भोर होगा !

एक हल्की-सी किरण पर
तिमिर का संसार भूले,
मैं किसीके पंथ पर चुपचाप जलता ही रहूँगा!

है बहुत आसान जीवन—
को कफन का हार देना!
स्वप्न को मुश्किल मगर है
सत्य का आकार देना!
भाग्य के बदले, लिए मैं
शक्ति अपनी ही भुजा की,
आपदाओं की लहर पर नित मचलता ही रहूँगा!

आड़ पर कोई किसीकी—
कर जवानी होम देता!
एक कण आँसू बना
पाषाण-मन को मोम देता!
जब तलक करुणा रहेगी
कंठ में, ज्वाला हृदय में;
जीत पर अपनी किए विश्वास, चलता ही रहूँगा!
एक आशा पर टिकाये साँस, चलता ही रहूँगा!



वर्तमान हिन्दी आलोचना को कई वादों में विभक्त किया जा सकता है—रसवाद, प्रगतिवाद, यौनवाद, प्रशंसावाद, काव्य-वाद, उद्धरणवाद और अन्ततः आतंकवाद। इन वादों की एकांगिता से हिन्दी-साहित्य को किस प्रकार अपार क्षति हो रही है इसे सुधी लेखक की लेखनी से ही देखिये—

आलोचना के नाम पर

साहित्याचार्य प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ शर्मा एम० ए०

कहना कठिन है कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य का सतत प्रसार और चतुर्दिक प्रगति आश्चर्य का विषय अधिक है या हर्ष का अथवा खेद का! कविता की बहुलता देख कर संदेह होने लगता है कि कविता लिखनेवालों की संख्या अधिक है या पढ़नेवालों की। सड़कों पर सँभाल कर, देखभाल कर न चलिये, तो हर दस कदम पर किसी कहानीकार से टकरा जाने की संभावना है। और आलोचना? राम कहिये। आलोचना ही तो एक ऐसी चीज है जिसे बिना किसी तूल-तवील के, बिना किसी साधन के, बिना किसी बुद्धि-वैभव के सभी करने की योग्यता रखते हैं। बात यह है कि हिन्दी का ककहरा खत्म करते-करते प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई डगर पकड़ लेता है! इतनी सस्ती साहित्यिकता और संभव भी कहाँ है? आवाज सुरीली हुई, तो एक सुन्दर-सा उपनाम रख लिया, दो-चार कवि-सम्मेलनों में गाना गाया और महाकवि बन बैठे। 'रसीली कहानियाँ', 'मनोहर कहानियाँ' जैसी 'उच्चकोटि' की पत्रिकाओं के रहते किसी की भी कहानी-कार बनने की साध अपूर्ण नहीं रह सकती। और, यदि इन दोनों में से कोई मार्ग अपनाना संभव नहीं हुआ, तो फिर आलो-चक की गद्दी से कौन उतार सकता है?

इस निबन्ध में हिन्दी-साहित्य के किसी दूसरे अंग की चर्चा न कर, केवल उसके आलोचना-साहित्य के संबन्ध में ही मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ; हिन्दी में अलोचना के नाम पर जो बहुत कुछ लिखा जा रहा है उसकी एक संक्षिप्त पर विशद रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिससे, मेरा विश्वास है कि आपका प्रर्याप्त मनोरंजन होगा।

सबसे पहले रसवाद। यह सिद्धान्त इतना प्राचीन और दृढ़ है कि इसके संबन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। संस्कृत की परंपरा से अनुस्यूत रहने के कारण उसकी रसवादी आलोचना से हिन्दी का प्रभावित होना सर्वथा न्याय्य एवं स्वाभाविक है। पर आश्चर्य तो तब होता है जब आज के आलोचक-प्रवर रस का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं, आउट-ऑफ-डेट, औब्सोलीट, रूढ़िवादी आदि फतवे दे बैठते हैं। एक ओर तो यह होता है और दूसरी ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना प्रणाली की प्रशंसा करते समय यह भुला दिया जाता है कि वह आउट-ऑफ-डेट रसवादी आलोचना ही थोड़ा पाश्चात्य रंग-ढंग अपनाकर क्रान्तिकारी आलोचना के रूप में प्रकट हुई है, कि उस आलोचना की आत्मा और शरीर तो रस की ही है, केवल साजसज्जा अभिनव है; बोतल नई भले ही हो, शराब पुरानी ही है। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों में सुनी-सुनाई बातों को बिना विचारे दुहराने की जैसी प्रवृत्ति है, वैसी अपनी बुद्धि से कुछ काम लेने की नहीं। जहाँ पश्चिम की चीजें आंख बंद कर ग्रहण कर ली जाती हैं, वहां अपने प्राचीन साहित्य पर भी यदि थोड़ा दृष्टिपात करने का श्रम किया जाता, तो बहुत अच्छा होता।

तो मैं यहां रसवादी आलोचना के गुण-दोषों का विवेचन नहीं कर रहा हूँ। मैं सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि चाहे जिस चीज का भी प्रयोग हो, शुद्ध होना चाहिये। आलोचना के प्रसंग में कई आलोचक रस का भी नाम लेना आवश्यक समझते हैं, लेकिन उसके संबन्ध में जब कुछ कहने लगते हैं, तो ऐसी असंगत, भ्रान्त एवं हास्यापस्द बातें कह जाते हैं कि देखने पर आश्चर्य होता है। रस तो खैर बहुत उलझा हुआ और गहन विषय ही है, उसका एक अंग जो अलङ्कार है तथा जो अपेक्षाकृत कहीं सुगम है, उसमें भी ऐसी भूलें की जाती हैं कि जिन्हें देखकर एकबार बिना वाहवाही दिये मन नहीं मानता। यदि रस-संबन्धी असंगतियों

की थोड़ी भी व्यापक चर्चा की जाय तो इस निबन्ध का कलेवर बेमान का हो जायगा अतः वैसा संभव नहीं है। अलंकार जैसी सुगम वस्तु से सबन्ध रखनेवाली एक दो महान् भ्रान्तियों का निर्देश कर अपने कथन का समर्थन कर लेना चाहता हूँ।

ये उद्धरण उस व्यक्ति की आलोचना से हैं जो आज के 'सबसे' बड़े आलोचक हैं—चूँकि उन्होंने जितने कम समय में और जितनी आलोचना की पुस्तकें लिखी हैं कि उनका वह कार्य संसार का आठवाँ आश्चर्य होने का दावा भी कर सकता है। उनकी पुस्तकों की पहुँच सबों तक है अतः उनके द्वारा की गई भ्रान्तियाँ भी अधिक से अधिक लोगों को भ्रम में डालने की शक्ति रखती हैं। मेरा तात्पर्य श्री रामरतन भटनागर से है जिनकी उपाधि का प्रत्येक अक्षर सार्थक है। यदि सभी भूलों का उल्लेख किया जाय तो एक पोथा तैयार हो जाय; यह तो पोथी भी नहीं, सहज एक निबंध है। पर एक दो नमूने भी कुछ कम मजेदार नहीं हैं।

आपके शब्दों में राधा का 'अनुपम बाग' के रूप में यह सांग-रूपक देखिये—

'अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त
तापर सिंह करत अनुराग
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर,
गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर,
ता ऊपर अमृत फल लाग
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव,
तापर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर,
ता ऊपर इक मनिधर नाग।'

पता नहीं, अलंकार का यह शुद्ध निर्देश देख कर दिवंगत आलङ्कारिकों की आत्मा क्या सोचती होगी? अथवा स्वयं सूरदासजी गोलोक से अपने इस आलोचक के हाथों अपनी कविता की ऐसी सुन्दर समीक्षा देखकर क्या विचारते होंगे? भूल भी होती तो किसी ऐसे स्थल पर, जहाँ भूल का होना क्षम्य समझा जाता। यहाँ तो कहना होगा कि दिन के प्रखर प्रकाश में सूर्य छिप गया है। मैंने भी अलङ्कार का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है, किन्तु कहीं भी सांग-रूपक का यह रूप देखने को नहीं मिला। अलङ्कार की परिभाषा के अनुसार आँख बंद कर एक बच्चा भी इस पद में अतिशयोक्ति अलङ्कार की ही स्थिति बतायगा। शायद भटनागर जी की दृष्टि में सांग-रूपक और रूपकातिशयोक्ति में कोई अंतर नहीं है। दोनों

जगह रूपक शब्द जो आगया है।

फिर एक जगह आप कहते हैं—
"सूर में स्मृति मूलक अलङ्कारों का प्रयोग विरोध-मू क अलङ्कारों से अधिक मिलता है। इनमें संदेह और स्मरण प्रधान हैं।" संदेह और स्मरण को स्मृति-मूलक अलङ्कार कहना मौलिक तो अवश्य है, पर आलङ्कारिकों ने इनके मूल में स्मृति की नहीं, सादृश्य की ही स्थिति मानी है। यदि इस कथन का विश्लेषण किया जाय तो उसका रूप होगा स्मृतिमूलक संदेह और स्मृतिमूलक स्मरण। स्मृति-मूलक स्मरण का क्या अर्थ होता है, यह कम से कम मेरी समझ में नहीं आता। हाँ, सादृश्यमूलक स्मरण मैं समझ सकता हूँ। फिर संदेह स्मृति से होता है, यह भी एक अबूझ पहेली है। सादृश्य के कारण संदेह होते देखा-सुना अवश्य गया है। अग्निपुराण के भगवान् व्यास से लेकर आज तक के किसी भी अलङ्कारिक को स्मृति के आधार पर अलङ्कारों का वर्गीकरण करते हुए मैंने नहीं देखा है। पर मौलिक व्यक्ति की शायद यही विशेषता है कि जो काम किसीने नहीं किया हो उसे वह कर दिखावे!

'रूपकातिशोक्ति में किसी वस्तु के रूप के संबन्ध में अतिशयोक्ति की जाती है।' इस कथन के बाद मैं भटनागरजी की मौलिकता का लोहा अवश्य मान गया, शास्त्रीयता का भले ही न मानूँ। यदि भटनागरजी सभी अलङ्कारों की ऐसी ही परिभाषायें लिख मारें तो निश्चय जानिये कि कोई भी व्यक्ति इन परिभाषाओं की सहायता से अलङ्कार-ग्रन्थों को त्रिकाल में भी नहीं समझ सकता।

वैसे ही—

'मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नँद-नंदन
नाना भाँति नचावति।'

इस अंश में न मालूम किस अलङ्कार-ग्रन्थ के आधार पर आपने विभावना अलङ्कार मान लिया है? विरोधाभास का भी आभास देते तो बहुत बुरा नहीं था। उड़े भी तो ऐसा कि विभावना पर जा गिरे!

पूरे दो पृष्ठों में सरसरी नजर से देखने पर केवल चार भूलें हैं। अधिक गिनाना संभव नहीं क्योंकि 'बाढ़ कथा पार नहि लहऊँ'।' तभी तो साल में दस कवियों की खासी अच्छी, मोटी-तगड़ आलोचना आसानी से लिखी जा सकती है। सोच विचार कर शुद्ध लिखने के चक्कर में पड़ा रहनेवाला बेचारा तो एक भी कवि की आलोचना नहीं लिख

पायगा। इस तरह की भ्रामक और ऊलजलूल बातों के लिखने से क्या लाभ ? इस छोटे-से निबन्ध में रसवाद के और अंगों की भूलों या और आलोचकों के संबन्ध में कुछ कहना सर्वथा असंभव ही है। मैंने पहले ही निवेदन किया कि उसके लिये पोथा लिखना आवश्यक होगा। जिन्होंने रसवाद के भीतर बिना पैठे, ऊपर से छू-छाकर ही आलोचना के लिये लेखनी उठा ली है वे तो ऐसी कमाल की बातें कहते हैं कि कुछ मत पूछिये।

आलोचना की दूसरी प्रचलित प्रणाली वह है जिसे प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कहते हैं। इस श्रेणी की आलोचना में साहित्य की अच्छाई-बुराई की परख केवल हँसिये-हथौड़े के मानदण्ड से की जाती है। कोई कितना भी बड़ा कलाकार क्यों न हो, यदि वह किसान-मजदूरों के आन्दोलन की, या कम से कम उनकी समस्याओं की चर्चा नहीं करता, तो वह कौड़ी का तीन है और उसकी रचना प्रतिक्रियावादी होने के नाते रद्दी की टोकरी ही में स्थान पाने की अधिकारिणी है। इन आलोचकों की कृपा से प्रगतिवादी परम्परा की प्राचीनता कबीर तक प्रमाणित हो चुकी है। विश्वास न हो तो 'हंस' का प्रगति-अंक उठाकर रामविलास शर्मा द्वारा संगृहीत 'हिन्दी कविता की प्रगतिशील परम्परा' देख लीजिये। तुलसीदास के विशाल साहित्य में इन लोगों को काम के केवल दो कवित्त मिले हैं; शेष सब निरर्थक सब वाहियात। रामचरितमानस या विनयपत्रिका सामंतवादी या बुजुआ साहित्य है, क्योंकि उसमें मजदूर-आन्दोलन की प्रतिध्वनि नहीं है। तुलसी की वह अमर प्रगतिशील पंक्तियाँ हैं:—

'खेती न किसान को,
भिखारी को न भीख, बाल,
बनिक को बनिज,
न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग
सीधमान सोचबस,
कहैं एक एकन सों
कहाँ जाइ का करी।'

यदि गोस्वामी जी की सारी रचनायें नष्ट भी हो जायँ तो केवल ये दो-चार पंक्तियां उनकी महत्ता अक्षुण्ण रखने के लिये पर्याप्त हैं। कबीर ने भी कविता कहने लायक केवल १२ पंक्तियाँ लिखीं जा उस प्रगतिशील परम्परा में उद्धृत हैं। बाकी की कोई गणना नहीं, कोई कीमत नहीं ? पहली बार संपादित होनेवाले इस प्रगति-अंक में प्रगतिशील

परम्परा कबीर तक पहुँची है, दूसरी बार कालिदास तक पहुँचेगी और तीसरी बार में बाल्मीकि तक। और फिर तो सारा भारतीय वाङ्मय प्रगतिशील! यह है चिंतन की मौलिकता, विचार की स्वतन्त्रता! यदि रामविलासजी ने थोड़ा श्रम किया होता तो जायसी, सूर, मीरा आदि से भी प्रगतिशील कविता की एक-दो पंक्तियाँ न सही, एक दो शब्द भी अवश्य ही मिल जाते और इस तरह प्रगतिशील परम्परा कुछ और अधिक दृढ़ हो जाती! ये बेचारे प्रगतिशीलों की पंक्ति में बैठने के सौभाग्य से जो वंचित रह गये वह उनके महान् दुर्भाग्य का विलास नहीं तो और क्या समझा जाय? मिस मेयो को सारे भारत में केवल गंदगी दिखाई पड़ी और कुछ नहीं। उसीकी जैसी पैनी-दृष्टिवाले ये आलोचक विश्वसाहित्य में केवल भूख, नग्नता, दुख, दैन्य तलाशते और शायद देखते भी हैं और इस प्रकार विशाल प्रगतिशील परम्परा को क्रमशः दृढ़तर तथा महत्तर बनाने में सतत प्रयत्नशील हैं। रंगीन चश्मे से जो भी देखा जायगा, रंगीन नजर आ जायगा और रंगीन को ही यदि कोई वास्तविकता मान लेने को ठान बैठा हो तो उसे आत्म-संतोष लाभ करने देना ही उचित है। यदि ये आलोचक यह ध्यान में रखें कि दुनिया हँसिये हथौड़े तक ही सीमित नहीं है, उसका विस्तार उसके अतिरिक्त भी है तो कुछ सचाई का अनुभव अधिक स्पष्टता से हो सकेगा।

अब आलोचकों के उस वर्ग पर दृष्टिपात कीजिये जो सिग्मंड फ्रायड की यौनभावना के महामंत्र का एकमात्र उपासक है। उनके विचार से संसार की सारी क्रियायें यौनभावना से परिचालित हैं। अतः साहित्य भी उस यौनभावना की अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है! ये आलोचक दिनरात अविराम रूप से मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण आदि पावन मंत्रों का जप करने में लीन रह कर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' की तरह 'सर्वं मनोविश्लेषणमयं जगत्' की सत्यता का सोते-जागते अनुभव किया करते हैं। कभी चेतन से उपचेतन की दौड़ लगाते, कभी उपचेतन से चेतन की सतह पर लौटते और कभी अवचेतन के अतल गह्वर में डुबकी मारते। चेतन-उपचेतन-अवचेतन के चक्कर में कोल्हू के बैल की तरह परिक्रमा करते-करते परेशान! मानव-मन की गहराई में बैठकर उसके सभी व्यापार देख लेने का दावा! यौनभावना की कुंजी से

मन के सारे बंद द्वार खोल देने की प्रसन्नता, और फिर काव्य की, सारे साहित्य की व्याख्या आरंभ होती है—कबीर का भावात्मक रहस्यवाद, जिसमें वह बालम को अपने घर बुलाकर 'एक-मेक है' सेजपर सोने की इच्छा प्रकट करते हैं, अथवा सूरदास का भ्रमरगीत, या मीरा का कृष्ण के विरह में दीवानी बनकर अपने को भूल जाना, या रीति-काल की शृंगारिक कवितायें---सभी, केवल अतृप्तकामवासना की काव्यगत अभिव्यक्ति हैं! इस तरह सारे काव्य-क्षेत्र को एक यौनभावना के डंडे से हंगा दिया जाता है!

मैं जो कुछ कह रहा हूँ उससे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि मैं मार्क्स-वाद या फ्रायडवाद का विरोधी हूँ। मार्क्सवाद या फ्रायडवाद का क्या, मैं किसी भी 'वाद' का विरोधी नहीं हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि संसार का कोई भी 'वाद' पूर्ण नहीं है--यदि उसमें अच्छाई है तो बुराई भी अवश्य है और यदि बुराई है तो अच्छाई भी निश्चित ही होगी। केवल अच्छी या केवल बुरी वस्तुयें संसार में अभी तक तो पैदा नहीं ही हुई हैं, आगे की बात भविष्य जाने। हाँ, किसी भी वाद या मत के सबसे बड़े विरोधी या यों कहिये कि वास्तविक शत्रु वे हैं, जो घोर बौद्धिक दासता के शिकार होकर एक उसी वाद को, जिसके वे अनुयायी होते हैं, सत्य एवं निर्दोष मान-लेने का भ्रम तथा अपराध करते हैं। जिसने अपनी बुद्धि का संतुलन खो नहीं दिया है, जो गुण-दोष दोनों की सत्ता स्वीकार करता है, जो विवेक अथवा विचार से काम लेने की थोड़ी भी क्षमता रखता है, वह किसी भी वाद का विरोधी नहीं हो सकता। तो मैं मार्क्सवाद या फ्रायडवाद का विरोध नहीं करता, उनकी मखौल नहीं उड़ाता। बल्कि उनकी और उनके अन्धानुगामियों की एकांगिता पर आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ। मार्क्सवाद की दृष्टिमें वाह्य जगत् ही यथार्थ है, अतः वह आन्तरिक व्यापारों की व्याख्या के लिये सर्वथा वाह्य व्यापारों पर निर्भर करता है। इसके प्रतिकूल फ्रायडवाद सारे वाह्य-व्यापारों को आंतरिक व्यापारों से प्रेरित, परिचालित एवं नियंत्रित मानता है। एक वाह्य जगत् को प्रश्रय देता है तो दूसरा अंतरजगत् को। फिर भी दोनों का दावा कि 'एक हमीं ठीक हैं'। और इसी एकांगी दृष्टिकोण से साहित्य की सच्ची, निष्पक्ष, वास्तविक आलोचना का

झूठा दम भरा जाता है। हालत है उन अंधों की जो हाथी के एक-एक अंग को हाथी मान कर अपनी समझदारी का परिचय दे रहे थे। जैसे युग और परिस्थिति के अनुसार साहित्य बदलता है वैसे ही उसकी आलोचना के सिद्धान्त और साधन भी प्रत्येक युग के विभिन्न होते हैं, यह एक महज छोटी-सी बात भी इन पंडितों की समझ में नहीं आती। उदाहरणार्थ, आप प्राचीन रसवाद के सिद्धान्त की कसौटी पर आधुनिक साहित्य को घसना शुरू कीजिये और देखिये कि कदम-कदम पर अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति का मुकाबला करना पड़ता है या नहीं। पहले तो एक नायक का ही परम्परागत लक्षण सहस्रों स्थानों पर बाधित हो जायगा। तब का नायक होता था—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको
रूपयौवनोत्साही।

दक्षोऽनुरक्तलोकः
तेजो वैदग्ध्य शीलवान् नेता॥

आज के नायक की परिभाषा बनाई जाय तो कुछ ऐसी होगी :—

दीनो दलितः पतितो
बुभुक्षितः शोषितश्चापि।

शिक्षोत्साहविहीनः
श्रमिकः कृषकोऽथवा नेता॥

रस आदि की तो चर्चा ही करना व्यर्थ है। इसलिये एक युग के आदर्श के अनुसार दूसरे युग को साहित्यिक समीक्षा बहुत कुछ असंगत ही होगी। आज की दृष्टि से रीतिकालीन कविता, भले ही भद्दी बतायी जाती है, पर यदि सचमुच तब के भावुक की रुचि को भी वह वैसी ही लगती तो एक-एक दोहे-सवैये पर जो अशर्फियाँ लुटायी जाती थीं वे निश्चय ही नहीं लुटायी जातीं। २०० वर्षों तक वह फूलती-फलती रही, यही इस बात का प्रमाण है कि उस काल में वह रुचिकर भी थी, रमणीय भी थी।

इन तीन प्रचलित, सामान्य आलोचनात्मक सिद्धान्तों के बाद मैं कुछ उन वादों के संबन्ध में कहना चाहता हूँ जिनकी ओर, मेरी समझ से, आपका ध्यान इस रूप में नहीं गया होगा। इन आलोचना की प्रणालियों में सबसे पहले मैं उसकी चर्चा आवश्यक समझता हूँ जिसे मैंने 'प्रशंसावाद' का नाम दिया है। और जब प्रशंसा एक 'वाद' का रूप धारण करेगी तो उसकी अभिन्न सहचरी निंदा बिना अपना हिस्सा लिये कैसे चुप बैठ सकती है? इस तरह

'प्रशंसावाद' के साथ 'निंदावाद' अनिवार्य भाव से लगा है। इस वर्ग के आलोचक, और जिनकी संख्या हिन्दी के दुर्भाग्य से बहुत बड़ी है, व्यक्तिगत राग द्वेष से प्रेरित होकर कलम उठाते हैं। वे आलोचना क्या लिखेंगे, या तो विरुदावली गाते हैं या गाली देते हैं। ये लोग पहले ही ठान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति को आसमान पर चढ़ा देना है अथवा अमुक को रसातल में ढकेल देना है। इसकी जड़ कितनी गहरी गयी है इसका अनुमान तो आज से चौथाई शताब्दी से भी अधिक पूर्व देव और बिहारी को लेकर देवासुर संग्राम की तरह होनेवाले उग्र संग्राम से सहज ही किया जा सकता है। आप कहेंगे कि वह आलोचना का प्रारंभिक काल था, पर आज आलोचना के बहुत कुछ तथाकथित वैज्ञानिक हो जाने पर भी उस दोष से क्या पिंड छूट पाया है? मुझे तो ऐसा लगता है कि वह व्याधि समय की प्रगति के साथ कुछ और बद्धमूल ही हुई है। आज की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली आलोचनाओं पर ध्यान दीजिये तो मेरे कथन के समर्थन की अपरिमित सामग्री मिल जायगी। एक-एक व्यक्ति को लेकर या तो प्रशंसा का पुल बांधा जा रहा है या गालियों की बौछार की जा रही है।

क्या अजीब तमाशा है! कुत्सित सिद्धान्तहीन विचारों को आलोचना का नाम दिया जा रहा है। निरंकुशता का ऐसा ताण्डव नृत्य! रुचि-स्वातंत्र्य का ऐसा दुरुपयोग? कृति की आलोचना के बदले व्यक्ति की आलोचना? कृति के संबंध में जब कुछ कहने को नहीं रहता तो व्यक्ति पर कीचड़ उछालना, भला-बुरा कहना, अंत में गाली-गलौज तक पर उतर आना! वैसे ही जब किसी की प्रशंसा करने लगे तो यह भूल गये कि आप उसके आलोचक हैं, चारण नहीं। इस तरह के उदाहरण दिये जायँ तो यह लेख पुस्तक का रूप धारण कर सकता है। आपके मनोरंजन के लिये कुछ ही नमूने काफी होंगे।

आगे के उद्धरण श्रीरामविलास शर्मा द्वारा लिखित दो आलोचनाओं से हैं। पहली आलोचना का नाम है "स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' जिसमें पंतजी की दो कला-कृतियों की समीक्षा का प्रयास किया गया है और अक्टूबर (१९४८) के 'हंस' में प्रकाशित है। दूसरी आलोचना का शीर्षक है 'कवि दिनकर' : 'उदय और अस्त' जो पटने से प्रकाशित होने वाले 'उदयन' के मार्च

(१९४९) के अंक में छपा है। इन दोनों आलोचनाओं को आरंभ से अंत तक पढ़ जाइये, आपको एक अक्षर भी पंत या दिनकर की अच्छाई के संबंध में नहीं मिलेगा। अच्छाई न हो, न मिले, पर क्या यह मान लिया जाय की पंत की दोनों पुस्तकों में केवल दोष ही दोष है, गुण का नाम भी नहीं, और दिनकर का सारा साहित्य 'प्रचार का साधन' मात्र है ? मैं कम से कम ऐसा नहीं मानता और मुझे विश्वास है कि कोई भी सहूलियत या समझ का आदमी ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता। फिर यह एकांगिता क्यों ? ये आलोचनायें शुद्ध, निष्पक्ष आलोचना की दृष्टि से नहीं लिखी गयी हैं; इतना असंदिग्ध है। इनके पीछे द्वेष की प्रेरणा है, वह सैद्धान्तिक हो, या व्यक्तिगत या और किसी कारण से उत्पन्न ! मैं रामविलास जी को एक ठिकाने का आलोचक मानता हूँ, जो यदि चाहें तो गंभीर, सच्ची और संतुलित आलोचना लिख सकते हैं, लेकिन यहाँ का छिछलापन एवं असंतुलन वस्तुतः आश्चर्यकर है, और खेदजनक तो है ही। जब ऐसे लोगों की लेखनी की यह दशा है तो मानना पड़ता है कि हिन्दी की आलोचना के दारुण दुर्भाग्य की अवधि निकट भविष्य में समाप्त होनेवाली नहीं है।

जिन उद्धरणों की ऊपर चर्चा आई है उनमें से कुछ ये हैं— ...'हिन्दुस्तान की जनता कितनी भी पिछड़ी हुई हो, वह किसी दूसरे की रोटी के सहारे नहीं जीती। हिंदुस्तान का पिछड़ा से पिछड़ा हुआ किसान पंत जी से ज्यादा दर्शन समझता है। वह ईमानदार है इसलिये रामनामी के नीचे कामशास्त्र नहीं छिपाता ! और सजीव भाषा का प्रयोग तो वह इन्हे युगों तक सिखा सकता है।'

और इतना कहते-कहते अंत में आप उपसंहार करते हैं—'स्थायी साहित्य, सुन्दर साहित्य, ऐसा साहित्य, जिसे जनता युगों तक अपने हृदय में स्थान दे, कायर, अनैतिक और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों की रचना नहीं हो सकता।'

ये दोनों उद्धरण कितनी संयत और सुरुचिपूर्ण मनोवृत्ति का परिचय देते हैं ? यह कृति की आलोचना है या व्यक्ति की ? मैं तो रामविलास जी के ही शब्दों में थोड़ा परिवर्तन करके कहना चाहता हूँ कि—

'स्थायी आलोचना, सुन्दर आलोचना, ऐसी आलोचना जिसे जनता युगों तक अपने हृदय में स्थान दे, दोषदर्शी, संकीर्णताग्रस्त और आलोचना की आड़

में व्यक्तिक एवं अश्लील आक्षेप करनेवाले व्यक्तियों की रचना नहीं हो सकती।'

इसी प्रकार दिनकर के संबन्ध में भो रामविलास जी के ये वाक्य दर्शनीय हैं—

"...लेकिन दिनकर किस-किसके फरमान पर कविता लिखते रहे हैं, यह क्या किसी से छिपा रह गया है? यह तटस्थता का शंखनाद अपनी साहित्यिक गुलामी छिपाने के लिए किया गया है, उस कला के रोजगार को छिपाने के लिये जो किसानों और मजदूरों में क्रांतिकारी जोश भरने के बदले पूँजीपतियों के इशारे पर कम्युनिस्ट विरोध का बॉल-डान्स दिखाती रही है।"

दिनकर किस-किस के फरमान पर कविता लिखते रहे हैं, यह तो अभी बहुतों से छिपा है; लेकिन रामविलास जी मार्क्सवाद की स्वाभाविक उपज घृणा और द्वेष के फरमान पर यह आलोचना लिख रहे हैं, यह मुझसे, या इस आलोचना को आलोचक की शुद्ध दृष्टि से पढ़नेवाले किसी भी व्यक्ति से, छिपा नहीं है, यह पक्का है।

दिनकर की कला पूँजीपतियों के इशारे पर कम्युनिस्ट-विरोध का बॉल-डान्स दिखाती रही है, इसमें निष्पक्ष आलोचकों के लिये संदेह की बहुत काफी गुंजायश है, लेकिन रामविलास जी की यह आलोचना, घृणा के उर्वर क्षेत्र में फलने-फूलनेवाले मार्क्सवाद के इशारे पर बुद्धिवाद के घोर विरोध का बॉलडान्स दिखा रही है, यह बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है।

आगे आप फिर कहते हैं—

"मुँह से साहित्य की स्वतंत्रता घोषित की जाती है, काम से साहित्य को पूँजीवादी राजनीति का गुलाम बनाया जाता है। कहा जाता है—'साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं, वरन् उससे भिन्न एक स्वतंत्र देवता है।' ('मिट्टी की ओर': दिनकर) लेकिन यह स्वतंत्र देवता सरकारी मोटर पर बैठा हुआ क्यों नज़र आता है? उसका देवत्व लाउडस्पीकर से किसके रचे हुए गीत ब्राडकास्ट करता है? या वह अनुचर न होकर बिहार-केसरी को ही राजनीति सिखा रहा है?"

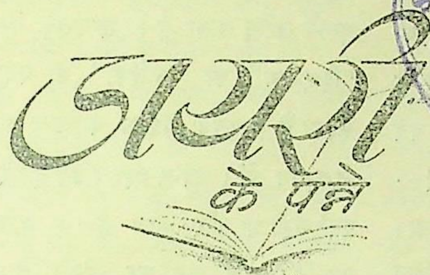
एक स्थान पर दिनकर के कथन की आलोचना करते हुए आप निर्णय देते हैं—'लेकिन इस समन्वयवाद की असलियत क्या है? असलियत यह है कि यह न छायावाद है, न प्रगतिवाद, यह है सीधा अवसरवाद; यह है अपनी जनता से दगा और पूँजीवाद की ड्योढ़ी पर दरवानगीरी!'

मैं रामविलास जी को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि जहाँ तक अवसर-वाद या अपनी जनता से दग़ा अथवा पूँजीवाद की ड्योढ़ी पर दरवानगीरी का प्रश्न है, वहाँ तक इसके खासे अच्छे और अधिक उदाहरण समता के अभिमानी तथा अपनेको कम्युनिस्ट घोषित करने-वालों में से ही आपको मिल जायँगे। ढूँढ़ने के लिये केवल थोड़े विवेक और तटस्थता की आवश्यकता है। और मैं तो स्पष्ट कहूँ कि आपकी यह पूरी आलोचना पढ़ जाने पर दिनकर के व्यक्तित्व के संबन्ध में, सही या गलत, आप जो कुछ कह रहे हैं, उसे तो अच्छी तरह समझ सका; पर दिनकर की कृतियों के संबंध में भी आपकी कोई धारणा है, यह नहीं जान सका। यदि आप ही के कथनानुसार दिनकर का सारा साहित्य 'प्रचार का साधन' मात्र है तब तो उसे अवश्य निर्दोष होना चाहिये; क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टि-कोण से साहित्य का उद्देश्य, प्रचार के अतिरिक्त, और भी कुछ होता है, यह अभी लोगों को जानने को बाक़ी है।

आपकी दृष्टि में दिनकर का सारा साहित्य प्रचार का साधन मात्र हो सकता है, किंतु अगणित काव्य-मर्मज्ञों, सुधी समीक्षकों एवं हिन्दी भाषी जनता की दृष्टि में दिनकर के साहित्य का स्थान बहुत-बहुत ऊँचा है। यदि आप इसे नहीं जानते तो मैं इसे जना देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

मैं इस वितंडा को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता; क्योंकि कहने-सुनने के लिये बातों की कमी नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणों और उनके संबन्ध में अपनी ओर से दो-चार शब्द कहने का लक्ष्य केवल आलो-चना की एकांगिता और संकीर्णता दिखाना है। प्रगतिवाद बड़ा सुन्दर शब्द है और जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, उसका अर्थ भी बड़ा सुन्दर है। उसे बदनाम करने का श्रेय ऐसी ही आलोचनाओं को है। यह दोष केवल प्रगतिवाद ही तक सीमित नहीं है, उसमें कुछ उत्कट रूप से वर्तमान भले ही हो। इस प्रकार की निंदावादी आलोचना का क्षेत्र बहुत बड़ा है।

(क्रमशः)





आठ दिन

श्री मोहनलाल महतो
'वियोगी'

२१ जनवरी

संध्या समय पटना पहुँच गया। ऊब उठा हूँ—गया से पटना, पटने से गया। गंगा-तट पर गया। बैठा रहा। गोधूलि और गंगा की शान्त-शोभा। निर्जन घाट पर बैठा हूँ—देख रहा हूँ, पाल ताने कुछ नाव दूर पर जा रही हैं। उस पार का दृश्य कितना मनोहर है। मैं मानों स्वप्नलोक में बैठा हूँ—जहाँ रंग है, रूप है, गंध है; किन्तु स्पर्श नहीं है, शब्द नहीं है। मैं स्पर्श और शब्द को पसन्द नहीं करता। शान्त गंगातट से लौट पड़ा—माँ की गोद से उतर कर धूल-भरी धरती पर चलने-फिरने लगा। "पटना मार्केट" की जगमगाहट! राम-राम!! मानव प्रयत्न करके शोर-गुल और अशान्ति का निर्माण करता है। भगवान् ने निश्चय ही किसी नरक का निर्माण नहीं किया; किन्तु यह काम बड़ी तत्परता से करता रहता है—मानव महाशय, आप धन्य हैं। आप इस दुनिया को मिटाकर ही दम लेंगे। होटल का शान्त एकान्त कमरा। १ बजे रात तक पढ़ता रहा बलदेव उपाध्याय का "भारतीय साहित्यशास्त्र"—एक स्वस्थ ग्रन्थ है; किन्तु मैं उपाध्याय जी के बहुत से सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकता—यह मेरा ही दुर्भाग्य है।

कब नींद आई, पता नहीं। सो गया, गहरी नींद, पूर्ण शान्ति!

२२ जनवरी

६ बजे उठा। पढ़ने लगा। ११ बजे उपाध्याय जी का ग्रन्थ पढ़कर जल-पान किया और लिखने बैठा—खूब लिखा! दोपहर को कुछ मित्र आये! गया की स्मृति सजग हो गई। घर पर भी मित्रों की धमाचौकड़ी रहती थी। मैं चाहता हूँ कि मुझे सेवा करने का अवसर दिया जाय—जीवन के दिन थोड़े हैं, अब मैं अपने जीवन का उप-

संहार देख रहा हूँ। हम सेवा करने के लिए संसार में आये हैं, न कि मित्रों की भीड़ में बैठ कर माथापची करने के लिए! ऐसा क्यों होता है? ठीक ६ बजे टहलने चला। 'रेडियो स्टेशन' गया!...

८ बजे रात को होटल लौट आया। ५-६ किताबें खरीदीं। गम्भीर साहित्य पढ़ता हूँ तो दिमाग अब थक जाता है और हल्की-फुल्की चीज भूख नहीं मिटाती। आज का दिन वैसा शान्त नहीं रहा—उस दिन मैं अत्यन्त पुलकित रहता हूँ जिस दिन मैं अकेला रहता हूँ और खूब पढ़ता हूँ। आज रात को भी पढ़ता रहा—आधी रात, सर्वत्र शान्ति, होटल का एकान्त कमरा और...और पूर्ण शान्ति। मैं चाहता हूँ कि ऐसी खूबसूरत रात नित्य मुझे प्राप्त हो।

२३ जनवरी

पटना मेरे लिए "इटकी का सेनोटोरियम्" है जहाँ क्षय के रोगी रहते हैं। यहाँ मेरा दिन मेरा है और मेरी रात मेरी है - आह, मैं घर पर कितना सुखी होता यदि मेरे मित्र मुझे भूल जाते! वे मुझे जीते-जी मार डालेंगे! १२ बजे दिन तक पढ़ता रहा। कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द। खिड़कियाँ बन्द, बिजली की रोशनी और मेरा शान्त स्वाध्याय! दर्शन-शास्त्र की बहुत-सी पुस्तकें खरीद लाया हूँ। शून्यवाद पर "दिङ्नाग" की "कारिका" का क्या कहना है? कितना विशाल पाण्डित्य था दिङ्नाग में। इतना बड़ा पंडित हमारे यहाँ कभी था और आज हैं...? बीते हुए दिन कराह बन कर लौटते हैं। संध्या समय टहलने निकला। 'उनसे' एकाएक मुलाकात हो गई—कैसा अच्छा होता यदि वे थोड़ा मूर्ख भी होतीं! संसार में जितने भी अनर्थ हुए हैं उनकी जड़ में बुद्धि ही तो है। मैं उनसे घृणा करता हूँ; क्योंकि उन्हें घृणा की ही आवश्यकता है—उन्हें जिस वस्तु की चाह है वही मैं उन्हें दूँगा।

रात शान्त-पूर्वक बीती। पढ़ता रहा और 'नोट' लिखता रहा। "दिङ्नाग-कारिका" चार-पाँच महीने से पढ़ रहा हूँ, किन्तु उस अगाध सागर के ओर-छोर का पता नहीं चलता। क्या अब उस कोटि के तत्वदर्शी नहीं पैदा हो सकते!

ऐसी शान्त सुहावनी रात! बड़ा आनन्द! बड़ी शान्ति!!

२४ जनवरी

आज फिर मित्रों की रेलपेल!!!

यदि यही दशा रही तो मुझे भागना

पढ़ेगा। आज दिन भर मैं लिख-पढ़ नहीं सका। हँसी-ठहाके और चुहल-बाजियाँ। भले आदमियो! तुम तो अमर हो कभी भी पढ़ लोगे, लिख लोगे; किन्तु मैं तो भोर का तारा हूँ—अब डूबा, तब डूबा। मुझे जी भर कर टिम-टिमा लेने दो, अच्छी तरह खूबसूरत धरती को देख लेने दो। रहम करो, दया करो, क्षमा करो! रात को मैं इतना थक गया कि एक टा भी ठीक से लिख न सका और १ बजे नींद आ गई!

२५ जनवरी

कल 'गणतन्त्र' का उत्सव होगा! क्या हम स्वतन्त्र हो गये? मेरा दिल स्वतन्त्र हुआ या दिमाग—समझ में नहीं आता। पं० विभूतिनाथ झा जी के साथ संध्या समय टहलने निकला। डॉ० सिन्हा के यहाँ गया। वहाँ जस्टिस जमुआर भी बैठे थे। डॉ० सिन्हा की जिन्दादिली देखकर चकित रह जाना पड़ता है। अस्सी साल के वृद्ध और जवानों के भी कान काटनेवाली बातें! एक-डेढ़ घंटे तक हँसी और कहकहे। डॉ० सिन्हा ने अपने लाइब्रेरियन को बुला कर कहा—"वियोगी आये हैं। पुस्तकालय की जयन्ती कैसे मनाई जाय—इनसे बातें कर लो; क्योंकि एक कविसम्मेलन भी करना है।"

सिन्हा साहब की कोठी से चले। बड़ी सुहावनी रात। ठंढी हवा और अकाश तारों से भरा हुआ। हम 'सर-किट हाउस' पहुँचे। संत निहाल सिंह यहीं ठहरे हुए हैं। देखा—चित लेट कर खा रहे हैं। बड़ों की बातें भी बड़ी शानदार होती हैं। मैं एक प्रश्न अपने-आप से पूछा करता हूँ—सन्त जी महान् लेखक हैं या महान् फोटोग्राफर; महान् पत्रकार हैं या महान् भाग्यवान्!

विभूति भाई ने संत साहब के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें सुनाईं कि मैं प्रसन्न हो गया। करीब ११ बजे होटल लौटा। थक गया था, किन्तु पढ़ने बैठ गया। जी लग गया और करीब दो बजे रात तक "कारिका" पढ़ता रहा। पढ़ने से थकावट मिट जाती है, लिखने से जी हल्का हो जाता है, सोचने से हृदय खिल उठता है और ''और अभी घर जाने का विचार नहीं है।

२६ जनवरी

बदली। ठंढी हवा और गणतन्त्र का उत्सव! सुबह से ही लिखने बैठा। "स्वतन्त्रता कैसे आई"—पुस्तक का श्रीगणेश आज किया। गान्धी-मैदान में

परेड देखने गया! बड़ी भीड़ और अव्यवस्था। "पत्रकार-ब्लाक" का कार्ड मिला था; किन्तु भीड़ पर कोई नियंत्रण न था। संध्या समय जब लौट कर होटल के फाटक पर आया तो भैया बेनीपुरी मिले। दीपोत्सव देखने हम दोनों चले। सेक्रेटरियट की ओर हम गये। सजावट का क्या कहना है—वाह-वाह! शहीदों की याद सताने लगी। ४२ की क्रान्ति के दिनों को बीते बहुत वर्ष हो गये; किन्तु उन शहीदों का खून अब तक तरोताजा है, जिन्होंने अपने को होम दिया था।

बेनीपुरी भैया ने दिखला दिया—"पटना सेक्रेटरियट के फाटक पर, यहीं पर उन बच्चों की लाशें रक्खी गई थीं जो पुलिस की गोलियों से भून डाले गये थे।" स्थान अन्धकार-पूर्ण और स्मारक के नाम पर सीमेंट का एक छोटा-सा चौतरा!!! हम कितने कृतघ्न हैं!!! राज्य पाकर उनको भूल गये जिनकी लाशों पर सिंहासन रख कर हम बैठे हुए हैं— यदि उन लाशों में किसी तरह जान आगई तो निश्चय ही सिंहासन लुढ़क जायगा और हम 'भगवान् ही रक्षा करें। बेनीपुरी भैया दोचार फूल ले आये और हमने इस तरह उन शहीदों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की और कहा—"भैया, तुम्हें चाहे दुनिया भूल जाय, किन्तु हम कलम के मजदूर कभी भी भूल नहीं सकते!"

हम अपनी प्रतिज्ञा को सदा याद रक्खेंगे। स्वतन्त्रता की पूजा हमने की और जो शपथ खाई वह सबसे बड़ी प्रतिज्ञा है। स्वतन्त्रता की हमारी प्रतिज्ञा फूले-फलेगी। बेनीपुरी भैया के डेरे पर लौटकर आया। वर्षा और भयंकर जाड़ा। होटल में ठीक ११ बजे लौटा। सो गया, पर नींद नहीं आई—तीन बजे उठ बैठा और लिखने लगा—"स्वतन्त्रता कैसे आई"! खिड़की, दरवाजा, सब बन्द और बिजली की रोशनी—लिखता-लिखता जब थक गया तो तकिए के नीचे से निकाल कर घड़ी देखते ही घबरा उठा—८ बज गया था! यह क्या—इतना विलम्ब! धूप निकल आई—ऐं!

२७ जनवरी

११ बजे स्नान करके सो गया। २ बजे उठा—भोजन किया। एक-दो मित्र पधारे—क्या करूँ! उफ!! संध्या समय गंगा-तट पर जाकर बैठ गया!

चांद की लुभावनी विभा और गंगा

(शेष पृष्ठ १०० पर)



नाटक

भग्न रागिनी

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

[प्रथम अङ्क]

[निविड़ अन्धकार। सम्मिलित वाद्यों का स्वर। उस संगीत की अंतिम ध्वनियाँ ऐसी हैं जैसे सागर की लहरों का अनवरत, न थकने वाला, सृष्टि की व्यंगमयी वेदना से परिपूर्ण रुदन। और उन्हीं ध्वनियों में से एक गहरी आवाज सुनाई पड़ती है मानो लहरें कथा सुनाती हों—

"दूर, बहुत दूर, पूरब के सागर के किनारे उत्कल प्रदेश में लहरों की लोरियों और रेत की सेज में एक खंडहर सो रहा है, कोणार्क। कोणार्क, सूर्यदेवता का मंदिर! कोणार्क आज अस्ताचलगामी सूर्य की रश्मियों से आलोकित अत्यन्त अभिराम किन्तु खंडित बादल की तरह एक सुनहली याद है। एक समय वह सपना सच्चा था। आज से सात सौ बरस पहले, उत्कल प्रदेश में पराक्रमी महाराज नरसिंह देव राज्य करते थे। महाशिल्पी विशु था उनका मुख्य स्थपति जिसने एक के बाद एक चार अद्भुत मंदिरों का भुवनेश्वर में निर्माण किया और जो अब, कोणार्क के अभूतपूर्व देवायतन के बनाने में अपनी निखरी

हुई कला का सर्वोत्कृष्ट चमत्कार दिखा रहा था।

मंदिर लगभग तैयार था। बारह सौ शिल्पी और मजदूर बारह बरस तक लगातार विशु की विराट कल्पना को साकार बनाने में लगे रहे। पत्थर के सात भव्य घोड़ों और बारह विशाल चक्रों पर स्थित सैकड़ों गज लम्बे चौड़े पिष्ठ पर सूर्यभगवान के गगनगामी महान् रथ की भाँति यह मंदिर पूर्व के सागर से मानो उदय हो रहा था। मंदिर के भीतर सूर्यदेवता की मूर्ति शून्य में स्थित थी—चुम्बक पत्थर के आर्कषण से। उत्कल की आँखें कोणार्क पर थीं—कब इसके शिखर के ऊपर का भाग—त्रिपटधर—पूरा होगा, कब उस पर केसरी पताका फहरायेगी ? कब ? कब ?"

अंतिम दो शब्द बहुत गहरे और आह्लादपूर्ण स्वर में कहे जाते हैं। संगीत तीव्र होकर मंद हो जाता है।

अंधेरा क्रमशः दूर होता है और एक कक्ष का भीतरी भाग दिखाई पड़ता है। मंदिर की विशाल चहारदिवारी के भीतर, मुख्य मंदिर से लगभग पचास गज दक्षिण पूर्व की ओर, एक भोगमंदिर था, यह कमरा उसी में स्थित है और मंदिर के निर्माण के दिनों में महाशिल्पी विशु का निवास स्थान है। सामने तीन द्वार हैं जिनमें से बीच वाले को छोड़ कर बाकी दोनों खिड़की ज्ञान पड़ते हैं। खिड़की के बराबर स्तम्भ है। खिड़कियों और सामने वाले द्वार में से मुख्य मंदिर और जगमोहन की झलक दिखाई पड़ती है—पूरी झलक नहीं, सिर्फ मेधि से ऊपर बद* और कुछ राहपग * एवं कोणकपग* दृष्टिगोचर होते हैं। राहपग में जंघा* पर और बद में पीड* पर अंकित अत्यन्त सुन्दर मूर्तियां भी अस्पष्ट-सी झलक रही हैं। मूर्तियां नर्त्तकियों और गायकों की हैं। मंदिर की वह झलक जितनी सजावट पूर्ण है उसकी अपेक्षाकृत महाशिल्पी का निवासस्थान, यह कमरा, अत्यन्त

*मंदिर के विभिन्न अंगों के नाम।

सादा और अलंकार विहीन है। खिड़की और द्वार के ऊपर कुछ फूल-पत्तियों की सजावट है, बस। इधर-उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तियाँ पड़ी हैं। दीवार के सहारे कुछ पाषाणखंड रखे हैं जिनपर की गई खुदाई नजर पड़ रही है। कुछ छेनियां और अन्य औजार भी पड़े हैं। बाईं खिड़की के पास दीवार से सटी एक लम्बी चौकी रखी है जिसके सिरहाने की तरफ लकड़ी की ऊँची पीठ है जैसा कि प्रायः प्राचीन सिंहासनों में हुआ करती थी। चौकी पर एक सादी कालीन बिछी है। चौकी पर चिंतित मुद्रा में बैठे हैं महाशिल्पी विशु। उनकी कुहनी चौकी की पीठ पर है और हाथों पर ठुड्डी है। हमें उनका पूरा मुख नहीं दीख पड़ता, क्योंकि उनकी दृष्टि बीच वाले द्वार से मुख्य मंदिर पर गड़ी हुई है।

कमरे में आने का एक द्वार दाहिनी तरफ भी है और इस दृश्य में अधिकतर अभिनेता इसी द्वार से आते जाते हैं। इस समय इस द्वार के निकट कोणार्क के प्रधान पाषाण-कीर्त्तक राजीव खड़े हैं। ऐसा मालूम होता है कि अभी बाहर से आये हैं और उन्होंने कुछ कहना समाप्त किया है। दाहिनी खिड़की से सटा हुआ जो स्तम्भ है उसका सहारा लिये हुए खड़े हैं, विशु के पुराने और अंतरंग बन्धु मुकुन्द जो स्वयं मंदिर के प्रमुख शिल्पियों में से हैं।

बातचीत के बीच में कभी कभी मंदिर की तरफ से पत्थर पर खुदाई की आवाज आती है जिससे ज्ञात होता है कि काम जारी है।

कभी कभी मंद संगीत स्वर सुनाई पड़ता है।]

विशु— कब? आखिर कब हम अम्ल के ऊपर त्रिपटधर को स्थापित कर पायेंगे? आज दस दिन हो गये केवल इसीके कारण मूर्त्ति का प्रतिष्ठापन नहीं हो रहा है। (राजीव की ओर उन्मुख होकर) राजीव, तुम कहते हो कि तुमने कलश के अधो अंश को और हलका कर दिया?

राजीव— हाँ, फिर भी कलश ठहर नहीं पाता। मैंने अम्ल के अनुपात को फिर से नापा, कहीं कमी नहीं।

विशु — छप्र की ऊपर वाली भूमि के जोड़ तो ठीक हैं न ?

मुकुन्द — वे सब जोड़ तो तुम्हीं ने अपने हाथों से स्थापित किये थे, विशु।

विशु — जानता हूँ। लेकिन मंदिर की महती कल्पना मेरी बुद्धि के परे हो चली है। मुझे न मालूम था कि सूर्यदेव के जिस विशाल वाहन का स्वप्न मैं देखा करता था वह सच्चा होते-होते इस पार्थिव धरातल से उठ कर भगवान भास्कर के चरण छूने के लिए उतावला हो उठेगा।

राजीव — राजनगरी के ज्योतिषी भानुदत्त का कहना है·····

मुकुन्द —उँह, ऐसी सारहीन भविष्य-वाणियाँ विश्वास के योग्य नहीं।

विशु — ज्योतिषी क्या कहता है राजीव ?

मुकुन्द — बीच में ही) कहता है कोणार्क देवालय ज्योंही पूरा होगा त्योंही इसके पत्थरों में पर लग जायेंगे और सारा मंदिर आकाश में उड़ जायेगा ···············ह, ह, ह।

विशु— विचारपूर्ण मुद्रा) ज्योतिषी के वचन निरर्थक नहीं हैं, बंधु। जानते हो, हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। (सोत्साह) वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरनी पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्श हीन, सुगंध की तरह सर्व-व्यापी हो रहा है। लेकिन······लेकिन धरती उसे जकड़े हुई है, ईर्ष्या से।··· ..मुझे लगता है जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।

मुकुन्द — पृथ्वी और आकाश के संघर्ष की बात फिर सोचना विशु। उत्कल के पृथ्वीपति की क्रोधाग्नि झेलने का भी कोई प्रबन्ध किया है ?

विशु— महाराज श्री नरसिंहदेव की क्रोधाग्नि ? उसे तो करुणा की फुहारें क्षणभर में शान्त कर देती हैं।

मुकुन्द— लेकिन वेही फुहारें जब गर्म तवे पर पड़ती हैं तो उसकी जलन और भी बढ़ जाती है और फुहारें छू-मन्तर हो जाती हैं।

विशु — तुम्हारा मतलब ?

मुकुन्द— उत्कल-नरेश का क्रोध चाहे क्षणिक भले ही हो, लेकिन महा-मात्य राजराज चालुक्य उसे प्रज्वलित रखते हैं और उन्होंने दया से पसीजना नहीं सीखा है।

विशु— महामात्य चालुक्य राज्य

के सब कुछ नहीं हैं। हमें उनसे इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।

मुकुन्द — तुम भ्रम में हो बन्धु। तुम और हमलोग राजनगरी से दूर यहां सागर के किनारे बारह बरस से एकान्त में कला की साधना कर रहे हैं, लेकिन राजनगरी में जो उलटफेर हो रहे हैं, उनके विषय में हम कोरे हैं। महाराज नरसिंहदेव तो बंगप्रदेश में यवनों को पराजित करने में लगे हैं किन्तु उत्कल का शासन तो महामात्य के हाथ में है।

राजीव — तात, दूर-दूर तक से आने वाले शिल्पी महामात्य द्वारा किये गये अत्याचारों के समाचार लाते हैं। उनमें से कितनों ही के कुटुम्बों पर महामात्य के अन्याय का हथौड़ा पड़ चुका है। दिन प्रतिदिन तरह-तरह की आशंकाजनक खबरें आ रही हैं।

विशु — अरे भई, हम शिल्पियों की तो दुनिया ही अलग है।

राजीव—धर्मपद तो यह बात नहीं मानता। आज ही वह विराम के पहले मुझसे कह रहा था ...

मुकुन्द — धर्मपद कौन?

राजीव — एक किशोर शिल्पी। हाल ही में आया है। आयु तो अल्प ही है — शायद १८ वर्ष भी नहीं, किन्तु बुद्धि तीक्ष्ण। आपसे मिलना भी चाहता है।

विशु — क्यों?

राजीव — साफ नहीं बताता। विचित्र जीव है। कभी तो मौन हो मंदिर के कलश की ओर निर्निमेष देखता रहता है, और कभी अल्प समय में ही चमत्कारपूर्ण मूर्तियां उत्कीर्ण कर देता है। कीर्तिस्तम्भ पर गायकों के रूप उसी ने उत्कीर्ण किये हैं।

विशु — एक १८ वर्ष के किशोर ने? राजीव, मैं उससे मिलूँगा।

राजीव — कहिये तो अभी बुला लाऊँ? तात, उसकी ओजमयी वाणी में आपको विस्मृत विद्रोह का ताप मिलेगा।

विशु — शिल्पी को विद्रोह की वाणी नहीं चाहिये राजीव। मेरी कला में जीवन का प्रतिबिम्ब और उसके विरुद्ध विद्रोह सन्निहित है। तुम उस किशोर को बुला लाओ। मेरी दृष्टि के स्पर्श से उसकी प्रतिभा की गंध जागृत होकर उसकी वाणी को मौन कर देगी। मुझे उसकी कला चाहिये।

(राजीव का प्रस्थान)

विशु — तुम चुप हो, मुकुंद।

मुकुन्द — हां उस किशोर के लिए तुम्हारी आतुरता ने मुझे उद्विग्न कर दिया है।

विशु— बन्धु, नये शिल्पी की प्रतिभा ही तो मेरी प्रेरणा है।

मुकुन्द— किन्तु आज तुम्हारी आतुरता के पीछे विवशता है विशु। महाशिल्पी की विवशता मुझे चिन्तित किये देती है।

विशु— (कुछ रुक कर) सच है मुकुन्द, मेरे हाथों की बेबसी मुझे अक्षम बना रही है और पूँजीहीन व्यापारी की भांति मैं दूसरे का मुँह ताक रहा हूँ। ···क्या मेरी कला मेरे सपनों को अधूरा ही रखेगी मुकुन्द ?

मुकुन्द— असम्भव! महाशिल्पी विशु अपनेको भूल रहा है! भूल रहा है कि कैसे उसने भुवनेश्वर में अनंतवासुदेव मंदिर के जगमोहन को पूरा किया था। भूल रहा है कि कैसे स्वर्गीय महाराज रिपुदमन देव के दरबार में विद्युत की भांति उसके हस्तकौशल ने सबको चकाचौंध कर दिया था।

विशु—(स्मृति की रज्जु पकड़ते हुए) वे पुरानी बातें हैं।

मुकुन्द—उन्नीस-बीस वर्ष पहले की चर्चा को मैं पुरानी नहीं मानता। मुझे तो आज की सी तरह वह बात याद है—तुम्हारा महाराज के राज्य दरबार में भीतहृदय और मौन लालसा का भार लिये आना ···

विशु—(सावेश) ठहरो।

मुकुन्द—(निकट जाकर उनके कंधे पर हाथ रखता हुआ) तुम बहुत उद्विग्न हो विशु!

विशु—तुमने अचानक ही एक भूली अँधेरी कोठरी में प्रकाश की किरण डाल दी।

मुकुन्द—वही मैं चाहता हूँ। तुम्हारे भूले यौवन, भूले उत्साह, भूली प्रेरणा को मैं ज्योतित करना चाहता हूँ जिससे कोणार्क अधूरा न रहे।

विशु—भूले यौवन की वह ज्योति एक झुलसा देने वाली लपट का परिणाम थी मुकुन्द। उस आग को पुनः प्रज्ज्वलित कर सकोगे ?

मुकुन्द—आग ?

विशु—हाँ। उद्दाम और उच्छृंखल प्रेम की आग जो एक दिन मेरा परिधान बन गई थी। उसी परिधान का वियोग मेरी कला का उद्‌गम हुआ, और मेरे हाथों में पाषाण उसी ताप से मुलायम होकर सौन्दर्य का प्रतिबिंब हो चला। आज वह गर्मी कहाँ जो पत्थर को पिघला दे।

मुकुन्द—कोणार्क की सिद्धि के लिए हम तुम्हारी प्रेयसी को यहीं ले आयेंगे।

विशु—चन्द्रलेखा को ? असम्भव।

मुकुन्द—चन्द्रलेखा ! कितना सुन्दर नाम है ।

विशु--यह नाम मैंने उसे दिया था क्योंकि उसका जंगली नाम मुझे भाता ही नहीं था ।

मुकुन्द—जंगली ?

विशु—हाँ, मुकुन्द, वह एक जंगली युवती थी । शवर-किशोरी । हमारे नगर में हाट के दिन अपने गाँववालों के संग जंगली छाल, जड़ियाँ इत्यादि बेचने आती ।

मुकुन्द—और तुम—आर्य नागरिक के पुत्र—उसपर मुग्ध हो गये ? खूब !

विशु—वह वन की कली थी । चट्टान को फोड़ कर बहने वाली निर्द्वन्द निष्कलुष जलधारा । मद भरे पावस-सी उन्मत्त; पुष्पावृत्ता कामिनी-सी सम्पन्न ।

मुकुन्द--(किंचित मुस्कराहट) हूँ ।

विशु—उसके प्रेमपाश में मेरे सुनहरे सपनों के लिए घोंसला मिल गया और हम दोनों स्वर और ताल की भांति एक दूसरे पर रीझ गये ।

मुकुन्द—जब वह रागिनी टूटी, तभी तुम्हारी कला प्रस्फुटित हुई विशु ।

विशु—हाँ । उस भग्न रागिनी का विषाद मेरी कला का वैभव था । यदि चन्द्रलेखा से वियोग न होता तो शायद मेरी कारीगरी सोई पड़ी रहती । किन्तु, अब लगता है मानो उस वियोग के पथ से भटक गया हूँ ।

मुकुन्द—शायद बीस बरस बाद होनेवाले पुनर्मिलन की घड़ी में तुम्हारी सुप्त व्यथा जगे ।

विशु—मिलन ? वह मेरा मुँह देखना भी नहीं चाहेगी ।

मुकुन्द—क्यों ?

विशु—बीस बरस हुए जब मैं उसे छोड़ कर भागा, तब वह माँ बनने वाली थी ।

मुकुन्द—विवाह से पहले ही ?

विशु—हाँ, मुकुन्द । वह मेरे कायरपन की कथा है । जब मैंने यह सुना तो उसे अपनाना तो दूर रहा, मैं उससे दूर भागा । नदी पर बढ़ते सांझ के अँधेरे की तरह मेरी बुद्धि पर तंद्रा छा गई और मैं चला आया—चन्द्रलेखा और उसकी अजात संतान से दूर, बहुत दूर, भुवनेश्वर में देवमंदिरों की छाया में, कला के आंचल में अपना मुँह छिपाने ।

मुकुन्द—विशु महाशिल्पी की संतान शवरों के बीच में ?

विशु—देखते हो यह भुजबंध,

(भुजा पर बँधे काले पत्थरों के बंध को दिखाता है) उसीने दिया था। और मैंने भी उसे गले में बांधने के लिए अपने हाथों से लकड़ी पर गढ़ कर कामदेव की प्रतिमा दी थी।

मुकुन्द — विशु, कोणार्क को पूरा करके तुम चलो शवर अटविका, चन्द्रलेखा और अपनी संतान को खोज निकालो, यही तुम्हारा प्रायश्चित्त होगा।

विशु — मुकुन्द, यदि कोणार्क पूरा न हुआ, तो मैं उसे तोड़ दूँगा।

मुकुन्द — इस विशाल भवन को तो भूकम्प ही गिरा सकता है, या काल।

विशु — नहीं मुकुन्द। एक रहस्य तुम नहीं जानते। सूर्य भगवान की मूर्ति निराधार स्थित है, चुम्बक के आकर्षण से। यदि मैं चुम्बक को हटा दूँ तो यह विशाल मूर्ति छत से टकरायेगी और·········

(राजीव का प्रवेश। साथ में एक और युवक। आयु लगभग १८ वर्ष। साँवला रंग। उसके दृढ़ गात, तेजोमयी आखें, घुंघराले बाल बताते हैं कि वह असाधारण वृत्ति का व्यक्ति है। तंग अंगरखा और ऊँची धोती पहने है। राजीव के पीछे-पीछे आकर द्वार के निकट खड़ा होता है। जब विशु उससे बातें करते हैं तो उसकी दृष्टि मानो विशु की काया के नीचे अन्तर्हित पुरातन विशु को खोजती है।)

राजीव — आचार्य, यही वह युवक है—धर्मपद।

विशु — तुम। (धर्मपद प्रणाम करता है) सुना है, तुम आशु शिल्पी हो। इतनी छोटी आयु में तुम्हें किस गुरु ने दीक्षा दी?

धर्मपद — किसी ने नहीं, आचार्य। मैं शिल्पी बना क्योंकि मुझे जीवित रहना था।

विशु — कला तुम्हारा जीवन है, यही न?

धर्मपद — कला मेरे जीवन का साधन है। मैं उससे अपना पेट भरता हूँ, भरण-पोषण करता हूँ।

विशु — कला सारे जीवन का प्रतिबिम्ब है, युवक। देखो, हमारे कोणार्क देवालय को आँखें भर कर देखो। यह मंदिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियाँ इसके स्तम्भों, इसकी उपपीठ और अधिष्ठान में अंकित की हैं, उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो, उनमें मनुष्य के सारे कर्म,

उसकी सारी वासनायें, मनोरंजन और मुद्रायें चित्रित हैं। यही तो जीवन है।

धर्मपद—क्षमा करें आचार्य, विलासवाली मूर्तियों को देखते-देखते मैं विरक्त हो गया हूँ।

मुकुन्द—अभी से? हँ, हँ, तुम युवक हो। किसी रमणी के सामने यह बात न कह देना, नहीं तो तुम्हें अविवाहित ही रहना पड़ेगा।

विशु—(गम्भीर) तो तुम उन लोगों में से हो जो इन प्रणय-मूर्तियों में अश्लीलता देखते हैं, जीवन का आदि और उत्कर्ष नहीं?

धर्मपद—जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है—जीवन का संघर्ष। अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस संघर्ष को भूल गई है। जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की; दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की। ......इनके बिना जीवन अधूरा है आचार्य।

विशु—लेकिन यह कला नहीं। कला की पूर्ति चयन में है—छांटने में। जंगल में तरह-तरह के फूल, पौधे, वृक्ष चाहे जहां उगे रहते हैं; लेकिन उपवन में माली छांट-छांट कर सुन्दर और मनोमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।

धर्मपद—छांटने में ही आंखों का खेल है आचार्य। आज के शिल्पी की आंखें वहां नहीं पड़तीं जहां धूल में हीरे छिपे पड़े हैं।

राजीव—मैं ठीक कहता था न तात, धर्मपद तर्कनिपुण है।

धर्मपद—मैं तर्क करने नहीं आया हूँ, मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ जो कि आपके निकट होते हुए भी आपकी आंखों से ओझल हो गया है। इस मंदिर में बरसों से बारह सौ से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं? जानते हैं आप, महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है; कइयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ा है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।

विशु—तुम समझते हो कि हम-लोगों को यह सब मालूम नहीं है! लेकिन राज्य की बातों में पड़ना शिल्पियों के लिए अनुचित है।

(बाहर दाहिनी ओर से कुछ हलचल, मानो अश्वारोही आ रहे हों। राजीव बाहर जाता है।)

धर्मपद—मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियां ही बनाता रहे। अगर मुझे महाशिल्पी के अधिकार मिले होते तो—

मुकुन्द—तो तुम कोणार्क को अब तक कभी का पूरा कर चुके होते। हँ-हँ-हँ- (अविश्वास का हास्य)

धर्मपद—पूरा करना अब भी कठिन नहीं।

(बाहर कोलाहल बढ़ रहा है)

मुकुन्द—क्या? धर्मपद, तुम भूल रहे हो कि तुम महाशिल्पी आचार्य विशु के सामने खड़े हो। पिछले दस दिन से निरंतर चेष्टा करने पर भी ये मंदिर पर कलश को स्थापित न कर सके और तुम—शास्त्रीय अध्ययन और अनुभव से शून्य—तुम कहते हो इसे पूरा करना कठिन नहीं? अपनी शक्ति से बाहर की बातें न करो युवक।

विशु—(जो अब तक मौन हो इस वार्तालाप को सुनता रहा है) नहीं मुकुन्द, उसे अपनी बात पूरी कहने दो। बोलो युवक, क्या तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकते हो? करोगे? ..... सोच समझ कर उत्तर दो; यह साधारण समस्या नहीं है। (इतने में कोलाहल बहुत बढ़ जाता है। तेजी के साथ राजीव का प्रवेश)

राजीव—(हाँफते हुए) आचार्य! महामात्य चालुक्य आ रहे हैं।

वि० —
मु० — } चालुक्य!
धर्म —

विशु—चालुक्य? यहाँ आ रहे हैं, बिना पूर्व सूचना दिये?

राजीव—जी हाँ। कई अश्वारोही साथ हैं। (बाहर तुरही का आवाज) आवाज सुनिये। (दूर से उच्च स्वर में प्रतिहारी बोलता है—"सावधान, सावधान, श्री महामात्य राजराज चालुक्य पधारते हैं, सावधान।")

मुकुन्द—महामात्य! सुना तुमने, विशु। (खिड़की से झाँकता है)

विशु—ऐसी जल्दी में महामात्य का हम समुचित स्वागत कैसे कर सकते? राजीव, अन्दर से वेत्रासन तो ले आओ। (राजीव बाईं तरफ जाता

है और एक वेत्रासन लेकर लौटता है)—युवक, तनिक इस तोषक और चादर को भलीभाँति रख दो।... (धर्मपद चौकी पर तोषक इत्यादि को ठीक करता है) मुकुन्द, महामात्य प्रकारम के अन्दर आ गये ?

मुकुन्द—(खिड़की से मुँह हटाते हुए) वे यहीं सीधे आ रहे हैं विशु। (रुककर) महामात्य का इस तरह सहसा आना मुझे अच्छा नहीं लगता विशु। (नेपथ्य में निकट आता हुआ स्वर—"सावधान, सावधान")

राजीव—आचार्य, वे आ गये...

(दो प्रतिहारियों का प्रवेश। प्राचीन भटों का वेश ; कंधों पर खड्ग। अंदर आकर द्वार के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं। उसके बाद महामात्य राजराज चालुक्य आते हैं। विशाल काय, आयु लगभग ४५, मुख पर क्रूर मुद्रा। बड़ी मूछें ! नेत्र छोटे हैं और बात करते समय और छोटे लगते हैं। बातचीत के समय भौंहें सिकुड़ जाती हैं और बायें हाथ से ठुड्डी को सहलाते भी हैं। पोशाक—पुराने ढंग से बांधी हुई धोती, रेशमी उत्तरीय, सुवर्ण पट मस्तक पर, बाजू पर एक बाजूबन्द, कमर में कटार। उत्तरीय कुछ लटक रहा है और एक हाथ से उसे पकड़ते हुए वेग से अंदर आते हैं और बिना पूछे हुए वेत्रासन पर बैठ जाते हैं। धर्मपद बीचवाले दरवाजे के पास खड़ा है। मुकुन्द खिड़की के पास; राजीव दरवाजे के निकट और विशु सब के बीच में कुछ आगे खड़े हैं। सभी लोग झुक कर महामात्य को प्रणाम करते हैं। कुछ क्षण के लिए स्तब्धता।)

चालुक्य—(कमरे के सभी व्यक्तियों पर सरसरी निगाह डाल कर फिर विशु पर आँखें ठहरा देते हैं) तुम जानते हो विशु, मैं क्यों इस तरह सहसा आया हूँ ?

विशु—आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली ...

चालुक्य—सूचना देता तो तुम लोगों का भंडाफोड़ कैसे होता ?

विशु—जी ?

चालुक्य—राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्यकोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं, न मजदूर। दस

दिन हो गये कलश तक स्थापित न हो सका।

विशु हमलोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुए हैं।

चालुक्य—(मुँह बनाते हुए) चेष्टा में लगे हुए हैं।...यहाँ तो मैं देखता हूँ गप्पें हो रही हैं। (सहसा धर्मपद पर दृष्टि पड़ जाती है, इशारा करते हुए) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है ?

धर्मपद—मैं ? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुःखद गाथा रख रहा था।

चालुक्य—शिल्पियों की दुःखद गाथा। प्रतिहारी इसे धक्का देकर बाहर निकालो। मुफ्तखोर कहीं का।

धर्मपद—मैं आप ही जाता हूँ। (बीचवाले द्वार से प्रस्थान; अपमानित अभिमान की मुद्रा)

विशु—महामंत्री, आपके शब्द बहुत कटु हैं। उसे तो मैंने ही ··

चालुक्य—कटु शब्द। (पैशाचिक हास्य) अब कटु शब्दों से काम नहीं चलेगा विशु। मैंने सुना है कि शिल्पी लोग राज्य के विरुद्ध सिर उठा रहे हैं, सुवर्ण मुद्राओं में वेतन मांगते हैं। और···

मुकुन्द महामात्य, आपको किसी ने बढ़ाकर सूचना दी है। सुवर्ण मुद्रा भला ये बेचारे क्या मांगेंगे ? हाँ, यह अवश्य है कि इस अकाल के समय में उनके कुटुम्बों पर महान कष्ट आ पड़ा है।

चालुक्य—देखता हूँ, तुमलोग भी इन्हीं में मिले हुए हो। मंदिर पूरा होना तो अलग रहा, यहाँ तुमलोग मिलकर राज्य पर दबाव डालने के लिए अभिसन्धि कर रहे हो। इसे······

विशु—महामंत्री, मेरी भी सुनिये···

चालुक्य—चुप रहो। मैं तुम जैसे लोगों को राह पर लाने की युक्ति भलीभांति जानता हूँ। (खड़ा हो जाता है) विशु, बरसों से बिनमाँगी प्रशंसा सुनते-सुनते तुम अपने को दण्डविधान से परे समझने लगे हो। आज मैं तुम्हारे इस घमंड को चूर करने ही आया हूँ।···· सुन लो और कान खोलकर सुन लो—आज से एक सप्ताह के अन्दर यदि कोणार्क देवालय पूरा न हुआ तो (कुछ रुक कर, लौह-प्रहार-से शब्दों में) तुम लोगों के हाथ काट लिये जायँगे !

(भयाक्रांत नीरवता)

विशु—(भयातुर, अविश्वासपूर्ण स्वर में, शिल्पियों के हाथ काट लिये जायँगे ?

चालुक्य—(सरोष) हाँ, शिल्पियों के हाथ काट लिये जायंगे। आज से

आठवें रोज या तो मंदिर में सूर्यदेव की मूर्ति का प्रतिष्ठापन होगा या तुम बारह सौ व्यक्तियों की भुजाओं पर प्रहार। (द्वार की ओर बढ़ता है। प्रतिहारी भी प्रस्थानोन्मुख होते हैं।)

मुकुन्द—इतना भीषण दंड।..... क्या यही उत्कल नरेश की आज्ञा है?

चालुक्य—(रुकता हुआ) हाँ, हाँ। महाराज नरसिंह देव की आज्ञा है।... और, मेरी आज्ञा है। (चलते समय सब लोगों पर क्रूर दृष्टि डालते हुए) उत्कल नरेश।........हूँ। (प्रस्थान। पद चाप। थोड़ी देर बाद नेपथ्य से दूर होता हुआ स्वर—"सावधान, सावधान, महामात्य राजराज चालुक्य पधारते हैं—सावधान महामात्य" ..... स्वर मंद हो जाता है। इधर स्टेज पर सब लोग चुप खड़े हैं—चिंतित)।

राजीव—(नीरवता तोड़ते हुए भीत स्वर में) अब क्या होगा?

(विशु अचेतन-सा चौकी पर बैठ जाता है।)

मुकुन्द—राजनगरी में अपराधियों के हाथ कटते मैंने देखे हैं। बड़ी पीड़ा होती है।

विशु—(मानो सपने में) उत्कल नरेश की आज्ञा? महाराज मेरी बरसों की सेवाओं पर ऐसा भीषण कुठाराघात करेंगे।

मुकुन्द—क्या मालूम उत्कल नरेश की आज्ञा है या महामात्य का अपना उत्पात। हमारे पास साधन भी नहीं; समय भी तो नहीं कि महाराज के मन की बात जान सकें! वे अभी तक वंग-विजय के उपरान्त लौटे भी नहीं हैं।

राजीव—सात दिन—केवल सात दिवस के बाद हम सबों के हाथ-काट लिये जायँगे!

विशु—ये हाथ!...(काँपकर हाथों को देखता हुआ) ये हाथ!! (सूखी हँसी)

राजीव—क्या कोई उपाय नहीं आचार्य? (पीछे वाले द्वार से धर्मपद आता हुआ दृष्टिगोचर होता है।)

धर्मपद—(आते-आते) एक उपाय है। (सब लोग उसकी ओर देखने लगते हैं)

मुकुन्द—धर्मपद!

राजीव—तुम फिर आ गये। तुम को तो......

विशु—(क्षुब्ध स्वर में) युवक, यह तुम्हारा अपमान नहीं, मेरी प्रतारणा थी।

धर्मपद—आचार्य, ठोकर खाकर धूल सिर पर चढ़ती है।

मुकुन्द—सिर पर चढ़ने के सपने छोड़ दो युवक। कोणार्क के प्रांगण में सात रोज बाद उत्कल के समस्त शिल्पियों का रक्त बहेगा।

धर्मपद—मैंने सुना है। मैं बाहर पास ही खड़ा था।

विशु—युवक, विनाश का वह संदेश अपने साथियों को भी सुना दो, मुझमें साहस नहीं कि उस विकराल घड़ी के लिए उन्हें तैयार कर सकूँ।

धर्मपद—निर्दय अत्याचार की छाया में ही जो विकसते और मुर्झाते हैं उनको एकाध विपत की घड़ी के लिए तैयार होने की जरूरत नहीं आर्य। ..लेकिन मैं कहता हूँ, इसकी नौबत ही क्यों आये ?

विशु—मेरी बुद्धि काम नहीं दे रही।

धर्मपद—मुझे अवसर दें आचार्य ?

विशु—तुम्हें ?

धमपद—महामंत्री के आने से पहले आपने मुझसे पूछा था - "क्या तुम अम्ल के ऊपर शिखर का स्थापित कर सकोगे"। मेरा उत्तर है आचार्य कि मुझे अवसर दिया जाय।

मुकुन्द तुम कर क्या सकोगे धर्मपद ? हमलोगों ने हर तरह से चेष्टा करके देख ली। पहले कलश कितना बड़ा था। अब उसे छोटा करके भी स्थित किया गया, लेकिन ठहरता ही नहीं। केन्द्र से कुछ हटा कर भी रखा गया छत्र और जंघा में तो कोई दोष है ही नहीं। हरेक अनुपात सही है, एक एक राह, पग और भूमि के आकार को भलीभाँति देखा गया है। आखिर करने को रह क्या गया है !

धर्मपद—आर्य, शिल्पशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन तो मैंने नहीं किया लेकिन मुझे लगता है कि मंदिर के ऊपरी भाग में जो कमल की आकृति है...

मुकुन्द—तुम्हारा मतलब अम्ल से है ?

धमपद—जी हाँ, उसी के केन्द्र में कलश स्थापित करना है। मुझे लगता है कि कोणार्क के इस कमल की पंखुडियाँ उलटी हैं। उन्हें उलट देने पर कलश ठहर सकेगा।

मुकुन्द—पंखुडियाँ उलट दी जायं ?.........

धर्मपद—मेरा मतलब है कि हरेक पटल को फिर से इस तरह रखा जाय कि जो बाहरी हिस्सा है वह अन्दर केन्द्र पर हो और जो नुकीला भाग है वह बाहर निकले। इस तरह उसकी आकृति खिले कमल की सी हो जायेगी,

कली की सी नहीं। लेकिन कलश स्थिर रहेगा।

विशु—(मानो अंधे को टिमटिमाता प्रकाश दीखा हो) युवक! तुम्हारी बात सारहीन नहीं जान पड़ती! अम्ल के केन्द्र पर शायद अधिक भार देने से कलश की यष्टि को सहारा मिले। (विचार-मग्न मुद्रा) हां युवक, मुझे पहले यह सूझा न था। अम्ल के बाहरी भाग पर इस समय जान पड़ता है अनुपात से अधिक भार है।…अगर …अगर…हम उस भार को हल्का कर सकें! तुम ठीक तो कहते हो युवक (खड़े होते हुए) तुम ठीक कहते हो।… भार को हलका करने के लिए अगर पटल को अन्तर्मुखी कर दिया जाय तो सम्भव है, सम्भव है……सम्भव!! (कलाकार की भावना चरमबिन्दु पर पहुँच गई।)

धर्मपद, चलो मेरे साथ। अभी चलो, हम छत्र के ऊपर चढ़कर अभी तैयारी करेंगे पटल बदलने की। अभी। (मध्य द्वार की ओर बढ़ता है।)

धर्मपद—ठहरिये।

विशु—(मानो स्वप्नभ्रष्ट हुआ हो) ऐं।

धर्मपद—ठहरिये। यदि मेरी युक्ति सफल हो जाये और कोणार्क के शिखर को हम स्थापित कर सकें तो मुझे क्या मिलेगा?

विशु—तुम क्या चाहते हो? जो कुछ मेरे हाथ है, तुम्हें दूंगा!

धर्मपद—मैं चाहता हूँ कि यदि शिखर पूरा हो जाय तो एक दिन के लिए, सिर्फ एक दिन के लिए देवमदिर के प्रतिष्ठान के दिन आप अपने सब अधिकार मुझे दे दें!

विशु अगर कोणार्क पूरा हो जाता है तो एक दिन क्या सभी दिनों के लिए वे अधिकार तुम्हारे हो जायेंगे! मैं तुम्हें अपने स्थान पर प्रधान शिल्पी बना दूँगा।

राजीव - यह आप क्या कह रहे हैं, महाशिल्पी?

मुकुन्द—(आश्चर्य)। विशु

विशु—मैं ठीक कह रहा हूँ। इस युवक की प्रतिभा ने मुझे मुग्ध कर लिया है। राजीव, तुम नहीं जानते हो! मुझे प्रधान के पद से कोई मोह नहीं। मोह है तो यही कि कोणार्क पूरा हो जाय। आज इस युवक ने ठंडी होती हुई राख को फूंक मार कर प्रज्वलित कर दिया है! मेरे हाथ, मेरी भावनाएँ इसी क्षण कोणार्क को पूरा करने के लिए आतुर हैं।…चलो युवक!…(धर्मपद का हाथ पकड़ कर मध्य द्वार से सवेग प्रस्थान।

राजीव—आर्य, वह आशा की किरण है या……

मुकुन्द—या दामिनी का क्रूर हास! ….राजीव; कोणार्क के क्षितिज पर बादल उमड़ रहे हैं, उमड़ रहे हैं। (पटाक्षेप)

क्रमशः

प्रचलित कहावत है 'आदमी सामने रखता है, भगवान अस्वीकार करता है। ज़ीद ने इसे उलट दिया है। ज़ीद के अनुसार आदमी, कलाकार के रूप में, भगवान की सृष्टि में से वह चीज चुन लेता है जिसे वह कला में परिवर्तित करेगा।



आंद्रे ज़ीद

प्रो० नलिनविलोचन शर्मा एम० ए०

मार्सेल प्रू, आंद्रे ज़ीद और जेम्स ज्वायस उपन्यास-कला में युगांतर उपस्थित कर देने वाले लेखक हैं। साधारणतः आज का मौलिक प्रयोग दो दिनों के बाद सुपरिचित परिपाटी बन कर रह जाता है। ये उपन्यासकार, इसके विपरीत, अपने समय से कदम, दो कदम नहीं, लग्गियों आगे थे; आज का उपन्यासकार भी उनके बराबर नहीं आ पाया है। आज भी उनकी मौलिकता परिपाटी नहीं बनी है, न उनके प्रयोग पिटी-पिटाई लीक।

इन तीनों उपन्यासकारों में पहले दो फ्रांस के हैं और तीसरा इंगलैंड का। कलागत प्रयोगों के संबंध में फ्रांस जितना ही ग्रहणशील और सहिष्णु है इंगलैंड उतना ही संकीर्ण और अपरिवर्तनवादी। इसका एक प्रमाण तो यही है कि इंगलैंड का, और अंग्रेजी में लिखने वाला, जेम्स ज्वायस पेरिस में रह कर लिखता था और वहीं अपनी रचनाएं प्रकाशित करता था।

पर प्रू और ज़ीद फ्रांस के लिए भी समय से बहुत आगे थे। ज़ीद अपने उपन्यास Les Faux-monnayeurs को अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना मानता है, पर फ्रेंच में भी यह सहज ग्राह्य न हो सका। यदि पुस्तक को पाठक ग्रहण न कर सकें तो शायद वे पुस्तक-लेखन की विस्तृत कहानी को पसंद करें! इसलिए ज़ीद ने Le Journal des faux-monnayeurs की रचना की।

इस दृष्टि से यह पुस्तक भी असफल ही रही। ज़ीद की असफलता पर एक आलोचक का यह मनोरंजक कथन बहुत दूर तक ठीक है। एक बार एक फ्रेंच सेनापति ने अपने अधीनस्थ सैनिक को शत्रु की व्यूह-रचना दिखा कर पूछा—'क्या तुमने कोई युद्ध देखा है?' 'नहीं'—सैनिक ने कहा। इस पर सेनापति ने कहा—'तो कल तुम देखोगे युद्ध में हारा कैसे जाता है।' दूसरे दिन सेनापति के द्वारा संचालित सेना हार गई। ज़ीद भी अपनी दूसरी पुस्तक में प्रमाणित करता है कि हारा कैसे जाता है। पर यह भी निर्विवाद है कि ज़ीद उसी तरह एक महान लेखक है जिस तरह सेनापति महान् सैनिक था।

उपर्युक्त उपन्यास के कई वर्ष पूर्व ज़ीद ने Les Caves du Vatican लिखा था। इस पर बिना गंभीरता के साथ विचार किया जा सकता तो इसे एक महान् औपन्यासिक कृति माना जा सकता था। किंतु यह संभव नहीं था क्योंकि उपन्यास का एक नैतिक उद्देश्य था, या यों कहें, एक अनैतिक सिद्धांत था - अस्तित्व का अभाव कितना सुंदर है, बिना समझे-बूझे कोई काम करना कितना अच्छा है! यह उपन्यास Les Faux—monnayeurs का पूर्वाभास था और इसका संदेश था—मिथ्यावादी बनो, यही सबसे बड़ा काम है! अगर चाहते हो तो अपराध भी कर सकते हो - लेकिन अपने अपराध के लिए कोई कारण मत ढूँढ़ो!

Les caves के पूर्व के उपन्यास Les Nourritures terrestres में ज़ीद की शैली का विकास नहीं हुआ था पर विचार और भाव में मानवीयता थी। Las Caves में भाव ऊटपटांग हैं पर शैली सर्वथा परिष्कृत हो गई है।

इस उपन्यास के बाद ज़ीद ने जो आत्मचरितात्मक रचना, Si le grain ne meurt, प्रस्तुत की। वह शैली की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस पुस्तक में ज़ीद की कला स्पष्टता के साथ घोषित होती है और उसका प्रभाव अमोघ सिद्ध होता है।

तब यह लेखक ऐसी दो यात्रा-पुस्तकें लिखता है जिनकी उम्मीद उससे नहीं की जा सकती थी। अपनी अफ्रीका की यात्रा के बाद उसने अपने संस्मरण और प्रतिक्रियाएँ Voyage au Congo और Ratour du Tehad में लिपिबद्ध किए। इन मनोरंजक यात्रा-पुस्तकों को पढ़ कर यह कहना कठिन

हो जाता है कि वे ज़ीद की लिखी हो सकती हैं। वही लेखक जो अकारण किए गए किसी कार्य—अपराध और मिथ्या-भाषण तक को —वांछनीय समझता और सिद्ध करता था, हब्शियों की दुर्दशा देख व्याकुल हो जाता है और मगर और गैंडे के साथ आत्मीयता का अनुभव करता है। डेनिस सौरेट ज़ीद पर लिखे गए अपने एक निबंध में विनोद के साथ प्रश्न करते हैं - 'वह अफ्रीका से लौटा ही क्यों ? उसे तो सदा के लिए कांगो नदी पर बस जाना चाहिए था' !

ज़ीद रूस भी गया था। रूस के सम्बन्ध में उसने कोई पुस्तक नहीं लिखी पर दो परस्पर-विरोधी वक्तव्य दिए थे जिनको लेकर फ्रांस में काफी विवाद चला था। सौरेट ने अपने पूर्वोल्लिखित निबंध में व्यंग किया है—'हम मान लें ये वक्तव्य ज़ीद के 'अकारण कार्य' (actes gratuit) थे—एक साम्यवाद के पक्ष में, दूसरा विपक्ष में' !

ज़ीद की सभी रचनाओं का विषय उसका अपना व्यक्तित्व है। यह व्यक्तित्व विशृंखल है पर उसीको सबका व्यक्तित्व बना कर हमारे सामने रखा जाता है। लेकिन यह बिलकुल अयुक्तिसंगत भी तो नहीं। इस प्रकार चिन्तित व्यक्तित्व में सभी ढंग का पाठक अपने व्यक्तित्व के ऐसे खंडों का दर्शन करता है जिन्हें उसने कुचल डाला था और भूल जाना चाहा था।

ज़ीद युवावस्था की आभ्यंतर अराजकता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व

भारतीय गणतंत्र......

पेज ११ का शेषांश

णाम यह हुआ कि विपत्तियाँ उनके भीतर वह दर्द नहीं जगा सकीं जो तितिक्षावस्था से नीचे की सतह पर काम करनेवाले कलाकारों में पैदा होता है। यही कारण है कि उनकी वाणी तितिक्षुओं की वाणी के समान विश्रब्ध और सीधी-सादी है तथा उसमें कलाकारिता के चढ़ाव-उतार का अभाव है।

यहाँ वर्ड्स्वर्थ की याद आती है। उसके बारे में मैथ्यू आर्नाल्ड ने लिखा है कि जगह-जगह ऐसा मालूम होता है, मानों, प्रकृति ने वर्ड्स्वर्थ के हाथ से कलम छीन ली हो और वह खुद कविता लिखने लगी हो। मगर, जब वर्ड्स्वर्थ प्रकृति के हाथ में कलम नहीं देना चाहता तब वह बहुत अच्छा नहीं लिखता है।

यानी आत्मविस्मृति की शीतलता में पहुँच कर वर्ड्स्वर्थ जो कुछ भी लिखता है, वह बिना चढ़ाव-उतार के भी सुन्दर है।

देता है। सच होते हुए भी मानव चरित्र का यह एक ऐसा पहलू है जो स्थायी नहीं होता। यौवन में जिस प्रकार हमारे सामने कई प्रकार के व्यवसाय सामने आते हैं और उनमें से हम एक अपने लिए चुन लेते हैं उसी प्रकार हम अपनी प्रवृत्तियों में से भी उस एक को चुन लेते हैं जिसे हम विकसित करना चाहते हैं। हम हर महीने अपना पेशा नहीं बदलते; इसी तरह हम अपना भीतरी पेशा, आन्तरिक प्रवृत्ति भी रोज-रोज नहीं बदलते रहते। अपवाद हो सकते हैं पर साधारणतः यही होता है। वय प्राप्त होते-होते हम निश्चय करते हैं कि हम अपनी कुछ प्रवृत्तियों पर, उदाहरण के लिए अपराध करने के प्रवृत्ति पर, नियंत्रण रखेंगे और साधारणतः रखते भी हैं। ज़ीद उन प्रवृत्तियों की संभावनाओं का उद्घाटन करते हैं जिन्हें हम अस्वीकार कर चुके होते हैं। अपने यात्रा-विवरणों में ज़ीद स्वयं ऐसा ही कुछ करता पाया जाता हैं। उसने 'बौद्धिक अनैतिकता' को अपना आदर्श बनाया था पर हब्शियों की दुर्दशा से वह इस तरह चिंतित हो जाता है जैसे सत्रह साल की उम्र में हो सकता था और रूस के बारे में वह ऐसा अनुभव करता है जैसा बीस साल की उम्र में कर सकता था।

ज़ीद का साहित्यिक सिद्धान्त उसके एक निबंध में यों सूत्रबद्ध है—'भगवान् सामने रखता है। आदमी अस्वीकार करता है।' प्रचलित कहावत है 'आदमी सामने रखता है, भगवान् अस्वीकार करता है।' ज़ीद ने इसे उलट दिया है। ज़ीद के अनुसार आदमी, कलाकार के रूप में, भगवान् की सृष्टि में से वह चीज चुन लेता है जिसे वह कला में परिवर्त्तित करेगा।

लेकिन विचारों की मौलिकता और विचित्रता के लिए ही ज़ीद का वह महत्त्व नहीं जिसका दावा उसके लिए किया जाता है। उसे आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ फ्रेंच लेखक माना गया है। इस कथन का आधार बहुत दूर तक उसकी शैली है। उसकी शैली की सरलता, स्निग्धता और गभीर शक्ति उसे फ्रांस के महान् लेखकों का समकक्ष बना देती है। ज़ीद के शैली और उसके विचार एक दूसरे के अनुरूप नहीं। ज़ीद का यह कृतित्व है कि उसने इनका सफलतापूर्वक संयोग कराया है।

आठ दिन......

(पृष्ठ ८० का शेषांश)

का मनोरम दृश्य। ७ बजे तक बैठा रहा। ऐसा एकान्त और शान्त वातावरण बहुत दिनों पर नसीब हुआ।

दो-तीन नई पुस्तकें खरीद कर होटल के कमरे में घुस गया। दर्शन की इन सुन्दर पुस्तकों को बहुत दिनों से खोज रहा था। संस्कृत वाङ्मय के इन कोहेनूरों का आदर करना जिस दिन हम जान जायँगे, उसी दिन हमारा भारत में जन्म ग्रहण करना सार्थक हो जायगा। इन पुस्तकों में एक है प्रशस्तपाद का "वैशेषिक भाष्य"। कैसा प्रचण्ड ग्रन्थ है—इस ग्रन्थ के लिए लालायित था। आज घर जाने का विचार है—

"पिंजड़े में फिर पंछी लौटा
बन ने उसे बहुत समझाया!"

२८ जनवरी

घर लौट आया। बड़ी भीड़। आने-जानेवालों की रेल-पेल। दिन भर मित्रों का आना-जाना एक को विदा किया, दूसरे का स्वागत—तीसरे टप-टप करते चले आ रहे हैं। पढ़ना-लिखना बन्द—केवल गप्पें हाँकना और बैठे-ठालों के तराने सुनना। बुरी तरह दिन कटे—रात को छुट्टी मिली। २-३ घंटे लिख सका—बस! क्या इसी तरह अब मुझे जाना पड़ेगा? शान्ति नहीं, आराम नहीं!

आपकी चिट्ठी......

(पृष्ठ १०४ का शेषांश)

१७ क्लाइव रोड, प्रयाग
१२।२।५०

प्रिय बेनीपुरी,

कविता तुम्हें पसन्द आई, इसकी मुझे खुशी है, पर आगे जो पूछ रहे हो वह खतरे से खाली नहीं है। तुम्हारे कान में तो सब डाल दूँ किन्तु बाबा, तुम तो उसे अखबार में छाप दोगे। फजीहत करानी है?

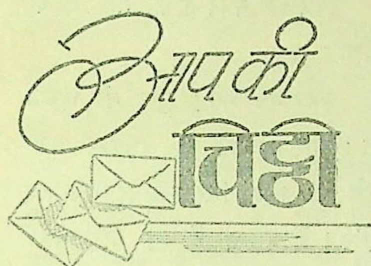
कुछ पाठकों की कल्पना के भी लिए छोड़ देना चाहिये, इसीमें उन्हें आनन्द आता है।

जभी कोई अच्छी चीज लिखूँगा, 'नई धारा' के लिए रिजर्व कर लूँगा।

सस्नेह
बच्चन

प्यारे बच्चन,

'प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ'—यों तो तुम्हारी यह रूमानी रचना अपनी कहानी आप कहती ही है और यह भी ठीक है कि कुछ पाठकों की कल्पना पर भी छोड़ देना चाहिये। लेकिन सम्पादक की यह इच्छा क्या स्वाभाविक नहीं है कि वह पकी-पकाई चीज पाठकों के नजदीक रखे। हाँ, जहाँ फजीहती का खौफ हो वहाँ चुप रहना ही अच्छा है। तुम्हारी अच्छी चीज 'नई धारा' के लिए सदा रिजर्व रहेगी, यह खुशखबरी ही हमारे पाठकों के लिए सबसे बड़ा संतोष का कारण होगी। —**बेनीपुरी**



शांति निकेतन
२२।२।५०

आदरणीय श्री बेनीपुरीजी,
सादर नमस्कार।

आपका ८।२।५० का कृपापत्र यथासमय मिल गया था, पर वह दूसरे कागजों में दब गया था इसीलिए मैं उसका उत्तर देना भूल गया था। विलंब के लिए बहुत ग्लानि हो रही है, क्षमा करें।

आप 'नई धारा' निकालने जा रहे हैं यह अत्यंत प्रसन्नता की बात है। जब आप संपादन करेंगे तो निस्सदेह उसका मान बहुत ऊँचा होगा।

मेरा सहयोग अवश्य मिलेगा। आप पत्र निकालें और मैं उसमें सहयोग न दूँ—यह हो नहीं सकता। लेकिन यह किसने बताया कि मैं डायरी लिखा करता हूँ? डायरी मैं लिखता नहीं हूँ, यही नहीं, मेरा विचार है कि डायरी लिखना हिन्दी-भाषी सभी प्रांतों के मनुष्यों के लिए अस्वाभाविक प्रयास है। हिन्दी-भाषी प्रांतों में लोग कुछ सरस और नर्मपटु होते हैं। डायरी और तरह के लोग लिखा करते हैं।

परन्तु मैं चाहूँ तो डायरीनुमा गद्य शायद लिख लूँ। एक बार प्रयत्न करके देखता हूँ, यदि बन गया तो आपके अवलोकनार्थ भेजूँगा, नहीं तो और कुछ।

आशा करता हूँ, आप स्वस्थ और प्रसन्न हैं। ७ मार्च को पटना आ सकता हूँ। वात से कई महीनों से भोग रहा हूँ इसलिए चलने फिरने में उतनी तत्परता नहीं है फिर भी आप मित्रों के दर्शन की आशा तो मन में है ही।

आशा है आप सानन्द हैं

आपका
हजारी प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी महाराज,

आदरणीय लिखकर लज्जित न कीजिये। चेष्टा तो करूँगा ही कि 'नई धारा' का मान ऊँचा रहे और आपलोगों का सहयोग मिला तो इसमें सफलता की भी पूरी आशा है। हिन्दी-भाषी प्रांतों के लोग डायरी क्यों नहीं लिखते इसका विवेचन तो बड़ा सुन्दर किया आपने। लेकिन मैं कहूँगा, इससे हमारे साहित्य को बड़ी हानि हो रही है। सोचिये न, आप जिस अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त कला-

रहे हैं, जहाँ कवीन्द्र रवीन्द्र ऐसे महान् कलाकार रहते थे और नन्द-बाबू ऐसे लोग आज भी रहते हैं और जहाँ देश-विदेश के महापुरुष पधारा ही करते हैं। यदि उन सबके संस्मरण आपकी लेखनी से दिन-दिन लिपिबद्ध होते जाते तो वे हमारे साहित्य के लिए कितनी बड़ी देन बन जाते ? और आप बीमार होकर भी पटना आये किन्तु मुझे आपके दर्शन न हुए क्या इसीके प्रायश्चित्त में मुझे यह भुगतना पड़ा कि 'नई धारा' के इस प्रथम अंक में आपकी कोई रचना न दे पाया । क्या आशा करूँ, अब से 'नई धारा', के पाठकों को आप अपनी कृतियों से वंचित नहीं करेंगे ?

—बेनीपुरी

*　　*　　*

पूर्णियाँ

फरवरी २८,१९५०

प्रिय बेनीपुरी भैया,

प्रणाम । विज्ञप्तियों के साथ तुम्हारी चिट्ठी पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई, और उससे भी अधिक क्लेश हुआ । अपने अन्तर के उसी क्लेश को अपने टूटे-फूटे शब्दों में पिरो कर, साथवाले कागज में, तुम्हारे पास भेज रहा हूँ । उपयोग के योग्य समझो तो काम में ले आओ । विज्ञप्तियाँ योग्य हाथों तक पहुँचा दूँगा ।

मगर एक बात ! तुम तो तूफान हो । जोर से उठते हो, हड़कम्प मचा देते हो और फिर कुछ दिनों के बाद शांत ! मैं चाहता हूँ कि 'नई धारा' बहाते हुए तुम शीतल समीर बन जाओ और उत्तप्त मानवता को जीवन और जागृति से भरी हुई बौद्धिक एवं नैतिक शीतलता का संदेश देते हुए अपने को, न केवल 'नई धारा' का प्रतीक, बल्कि खुद नई धारा ही बना दो और, इस रूप में तबतक अबाध गति से चलते रहो जबतक रक्त पीने की चाट में लगी हुई मानव-जाति उससे मुँह मोड़ कर साहित्यामृत पीने को सदा के लिए निश्चय न कर बैठे। तुम मर कर भी युग-युग जीओ ।

जानते हो, इसबार की बिमारी में मैं मरते-मरते बचा हूँ ! मगर अब सब ठीक है । आशा है, तुम भी सब तरह से प्रसन्न हो ।

तुम्हारा

द्विज

भैया,

तुम्हारा 'पिंजड़े का पंछी' देखा । पंछी पिंजड़े में जरूर पड़ा है किंतु उसके

पंखों से उड़ान नहीं गई है। जरा पंखों को फटफटाओ तो, देखोगे, ये तीलियाँ कहाँ उड़ गईं! दोस्त, तुम्हारे ऐसे सोये हुए पंछियों को झकझोर कर जगाने के लिए ही तो मुझे तूफ़ान का रूप धारण करना पड़ता रहा है। हाँ, अब तुम शीतल समीर भी पाओगे और मर कर अमर हो सकूँगा या नहीं, लेकिन इतनी कामना तो है ही कि 'नईधारा' द्वारा हिन्दी-भाषियों में साहित्य और कला के लिए एक नई चाट पैदा करूँ। क्या तुम्हें यह याद दिलाऊँ कि अगले साल मैं पचास का हो जाऊँगा और जिन्दगी के इस हिस्से में आकर तूफ़ान स्वयं समीर बन जाता है और चलते-चलाते कुछ सुन्दर और स्थायी चीज छोड़ जाने की भावना प्रबलतम हो उठती है। आशी-र्वाद दो, 'नई-धारा' में मैं अपनी इस कामना की पूर्ति पाऊँ।

—बेनीपुरी

* * *

टीकमगढ़,
१२-२-५०

प्रिय बेनीपुरी जी,

वन्दे। कृपापत्र मिला। आप 'नई धारा' प्रारम्भ कर रहे हैं यह पढ़कर बहुत हर्ष हुआ और कुछ चिन्ता भी। हर्ष तो स्वाभाविक ही है पर चिन्ता का कारण यह है कि अब पत्र निकालना या तो पार्टियों का काम रह गया है अथवा पूँजीपतियों का। यदि आप अपनी पार्टी से पत्रिका निकलवाते तो घाटे की आशङ्का से बच जाते। मुझे डर इस बात का है कि प्रथम वर्ष में ही आपको ३।४ हजार का घाटा कहीं न सहना पड़े। और यह तो तब जबकि आप वेतन कुछ भी न लें! आज की परिस्थिति यही है। 'नया समाज' को प्रथम वर्ष में १४ हजार का घाटा सहना पड़ा।

पारिश्रमिक के खाते में कम से कम २५०) प्रतिमास तो रख लीजिये। उसके बिना लेख नहीं मिल सकेंगे।

एक बात और। बिना ५।७ अङ्कों का मसाला इकट्ठा किये 'नई धारा' न निकालिये। रामानन्द बाबू ने तो तीन वर्ष का मसाला इकट्ठा कर लिया था! पहले ५-७ अङ्क यदि ठीक निकल गये तो धाक बँध जायगी। २० वर्ष के लिए रामानन्द बाबू ने वस्तुतः अपने को जेल में बन्द कर लिया था, तब माडर्नरिव्यू और प्रवासी वे निकाल सके। बहुधंधीपन छोड़े बिना पत्र चल नहीं सकता। ये सब बातें मैंने आपको लिख दी हैं सद्भावनापूर्वक और इन्हें आप इसी भावना से ग्रहण करें।

विनीत
बनारसी दास

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

आपकी सद्भावना पर किसे सन्देह हो सकता है? फिर आपको बहुत निकट से देखने और समझने का सौभाग्य मिला है मुझे। जिसमें दुर्भावना है, वह प० बनारसीदास चतुर्वेदी नहीं है। रही घाटे और तैयारी की बात। मैं कहता हूँ—ग्यारहवाँ घंटा ही मेरा घंटा होता है और आपलोगों के स्नेह और कृपा पर इतना भरोसा है कि "नई धारा" को नित्य नई सामग्रियों से पूर्ण रख सकूँगा, ऐसा विश्वास है। घाटा—पहला साल चौदह हजार! संयोग कहिए, 'नई धारा' एक राजघराने में पैदा हुई है, और चौदह या चालीस के लिए चिन्ता नहीं है! बस, हिन्दी-संसार इसे दिल खोल कर अपनावे, इसीके लिए चिन्ता है। और, जहाँ तक पार्टियों द्वारा साहित्य और कला के प्रसार और प्रचार की बात है, अनुभव ने मुझे कहा है—भगवान कला और साहित्य को पार्टियों से बचावे! रूस का ही उदाहरण मेरे प्रमाण में ही नहीं है—अपने देश में भी हम काफी देख चुके हैं।

—बेनीपुरी

* * *

भैया बेनीपुरी,

हाँ, डायरी लिखता हूँ। बीस-पचीस साल से लिख रहा हूँ। आज्ञानुसार सात-आठ पृष्ठों की नकल करके भेज रहा हूँ—पसन्द आवे तो लिखना, बराबर भेजता जाऊँगा।

कृपा रखना और 'नई धारा' को इधर भी मोड़ देना। हमारी फल्गु अन्ततः सलिला है—इस पानी बिना तरसा करते हैं। दया करोगे तो दो चुल्लू पीकर छाती की जलन मिटा सकूँगा।

कृपा रखो, दया रखो, अपनापन रखो और कभी कभी दो-चार घी के चुपड़े इधर भी फेंक दिया करो।

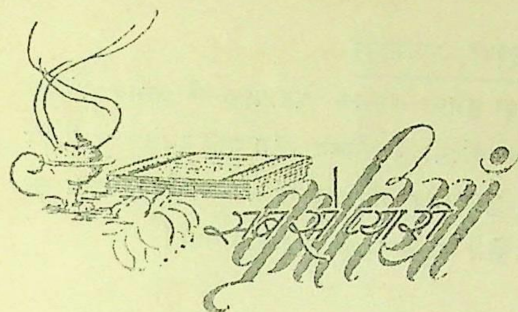
सस्नेह
वियोगी

मेरे प्यारे भाई,

डायरी के पन्नों के लिए मैं हिन्दी-संसार में चारो ओर टटोल रहा था और 'जिन ढूँढा तिन पाइयाँ।' गया में फल्गु है—ऊपर रेत-रेत भले दीखे, आँखवाले देखते हैं, भीतर रस ही रस छलक रहा है। गंगा में रवानी है किन्तु इसके पानी में क्या वैसी शीतलता भी है? और, अपनों से अपनापन रखने की कृपा क्यों खांजी जाय और गया के पेड़े से घी के चुपड़े क्या अधिक मजेदार होते हैं? तुम्हारे ही शब्दों में कृपा रखो, स्नेह रखो और अपने दो-चार घी के चुपड़े यों ही 'नई धारा' में भी फेंक दिया करो।

—बेनीपुरी

(शेष पृष्ठ १०० पर)



इस शीर्षक के लिए हमने कुछ कवि बन्धुओं से पूछा था कि १९४९ में उन्होंने जो रचनायें कीं उनमें से उन्हें सबसे प्यारी कौन लगी? ऐसी रचनाओं में से दो हम यहाँ दे रहे हैं।

बच्चन, इलाहाबाद

इस गीत को मैं अपनी १९४९ की कृतियों में सबसे प्यारी मानता हूँ। यह 'मिलन यामिनी' में संग्रहीत है। यह सर्वप्रथम 'आजकल' (दिल्ली के मई १९४९ के अंक में प्रकाशित हुई थी।

प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ!

(१)

प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ!
अरमानों की एक निशा में
होती हैं कै घड़ियाँ,
आग छिपा रक्खी है मैंने
जो छूटी फुलझड़ियाँ,
मेरी सीमित भाग्य-परिधि को
और करो मत छोटी,
प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ!

(२)

अधर पुटों में बंद अभी तक
थी अधरों की वाणी,
'हाँ-ना' से मुखरित हो पाई
किसकी प्रेम कहानी,
सिर्फ भूमिका थी जो कुछ
संकोच भरे पल बोले
प्रिय शेष बहुत है बात अभी मत जाओ
प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ!

(३)

शिथिल पड़ी है नभ की बाहों
में रजनी की काया,
चाँद चाँदनी की मदिरा में
है डूबा भरमाया
अलि अबतक भूले-भूले-से
रसभीनी गलियों में,
प्रिय मौन खड़े जलजात अभी मत गाओ!
प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ!

(४)

रात बुझाएगी सच-सपने
की अनबूझ पहेली,
किसी तरह दिन बहलाता है
सब के प्राण सहेली,
तारों के झँपने तक अपने
मन को दृढ़ कर लूँगा,
प्रिय दूर बहुत है प्रात अभी मत जाओ।
प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ।

श्रीभवानीप्रसाद तिवारी, जबलपुर

प्रसंग यह है कि सुभद्रा कुमारी स्मारक अनावरण के समय श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा—'नदियों के विजय स्तंभ नहीं बनते ···!' यह विचार मन में घुलता रहा घुलता रहा और जब वह गीत बनकर निकला तो यों आया और १९४९ की मेरी सब से प्यारी रचना बन गया !

प्यार न बाँधा जाये !

साथी ! प्यार न बाँधा जाये।

शशि को छूने उठे उदधि का ज्वार न बाँधा जाये।

शैल शिखर की अँगड़ाई - सी धार-उठी अलबेली

शूल-फूल कंकड़-पत्थर में, बढ़ती चली अकेली

वनश्री के शोभा-मंदिर की भाव भरी रंगरेली

रंजित किरणों के संग आतुर लहरों की अठखेली

सिंधु मिलन अभिसारवती का, पार न बाँधा जाये।

विना साँस के मैंने जीवन, कभी न चलते देखा

बिना स्वाति के मैंने चातक, कभी न पलते देखा

बिना स्नेह के मैंने दीपक, कभी न जलते देखा

ज्योति जली तो शलभों का, बलिदान मचलते देखा

चातक, दीपक, शलभों का, उद्गार न बाँधा जाये।

बचपन में वह भोला-भाला, वय में तनिक रंगीला

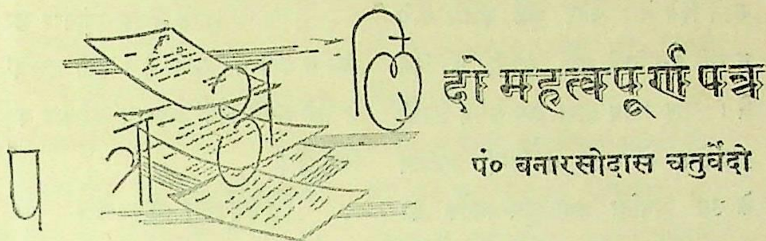
चंचल हुआ दृगंचल में आ, सुधि में सहज सजीला

यौवन में उद्दाम काम—सा, सतरंगी चटकीला

उमर चढ़े रस बढ़े निरंतर, अंतर में किरनीला

जनजन के मन में फैला, विस्तार न बाँधा जाये।

साथी ! प्यार न बाँधा जाये।



दो महत्वपूर्ण पत्र

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

साहित्य में पत्रों का बड़ा महत्त्व है और जीवनचरितों के लिये तो उनका उपयोग अनिवार्यतः आवश्यक है। अंग्रेजी इत्यादि विदेशी भाषाओं में तो पचासों पत्र संग्रह विद्यमान हैं। यहाँ तक कि उर्दू में भी कम से कम तीस पैंतीस पत्रसंग्रह मौजूद हैं। रही हिन्दी, सो उसमें हमें केवल दो संग्रहों का पता है, एक तो महर्षि दयानन्द के पत्र और दूसरे महात्मा गांधी जी के कुछ गुजराती पत्रों का हिन्दी अनुवाद!

निजी पत्रों में लेखक प्रायः दिल खोलकर अपनी बात कहते हैं। उन पत्रों की बात हम नहीं कहते, जो छपने के लिये ही लिखे जाते हैं, क्योंकि उनमें कृत्रिमता का आ जाना स्वाभाविक है।

पूज्य द्विवेदी जी का जो पत्र यहाँ प्रकाशित किया जाता है उसे उन्होंने अपने स्वर्गवास से साढ़े नौ महीने पहले लिखा था। पत्र २-३-३८ का है और द्विवेदी जी का देहान्त २१ दिसम्बर १९३८ को हुआ था। लज्जावश इसे मैंने अभी तक नहीं प्रकाशित किया था। मुझे इस बात का घोर परिताप है कि मैं द्विवेदी जी की सेवा में बहुत दिनों से पत्र नहीं भेज सका था और सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि उनके इस पत्र का भी उत्तर नहीं भेज सका! मैंने यहाँ भरपूर प्रयत्न किया कि राज्य द्वारा द्विवेदी जी की कुछ सेवा हो जाय पर एक महानुभाव के विरोध के कारण, (जिनका नाम लेना ठीक न होगा) मुझे इसमें सफलता नहीं मिली। अपनी इस असफलता से मैं और भी लज्जित था। समझ में नहीं आता था कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ! द्विवेदी जी बहुत वृद्ध हो चुके थे, पचास रुपये महीने की पेंशन से उनकी गुजर नहीं हो सकती थी और स्वयं वे बड़े दानी थे। हजारों ही रुपये उन्होंने दान में दिये थे। हिन्दू विश्वविद्यालय को ही उन्होंने छात्रवृत्तियों के लिये ६ हजार

रुपये दिये थे। और एक हजार रुपये नागरी प्रचारिणी सभा काशी को दिये थे। यदि राज्य द्वारा उस समय उनकी कुछ सेवा हो जाती तो हिन्दी साहित्य के उस निर्माता तथा युग-प्रवर्तक का कुछ भार ही हल्का होता। पर यह नहीं हुआ।

जब द्विवेदी जी के स्वर्गवास का समाचार मुझे मिला तो मुझे अत्यन्त दुःख हुआ और इस बात का पश्चात्ताप भी कि उनके अन्तिम दिनों में उनकी कुछ सेवा न कर सका।

दूसरा पत्र प्रेमचन्द जी का है। सौभाग्य से वह हिन्दी में ही है; नहीं तो उनकी अधिकांश चिट्ठियाँ अँग्रेजी में ही आती थीं। वहाँ भी अपराध मेरा ही था। आचार्य श्री मनोरंजन जी द्वारा अनेक बार डाट फटकार मिलने पर भी मैं अपनी अँग्रेजी के प्रयोग की बीमारी से छुटकारा नहीं पासका। और प्रेमचन्द जी भी अँग्रेजी पत्रों का उत्तर अँग्रेजी में ही देते थे। अकस्मात् मेरा पत्र उन्हें हिन्दी में ही गया और उसके परिणामस्वरूप मुझे यह महत्त्वपूर्ण पत्र उनसे प्राप्त हो गया।

'नई धारा' के पाठकों के लिये ये पत्र प्रथम वार अविकल प्रकाशित किये जाते हैं।

पुनश्च.—सुनते हैं कि स्वीकार कर लेने से पाप घट जाता है। इसी भावना से मैंने अपने दोनों अपराध स्वीकार कर लिये हैं!

द्विवेदीजी का पत्र

दौलतपुर, रायबरेली

२-३-३८

प्रियवर चतुर्वेदी जी,

पहले तो आप मुझ पर विशेष कृपा किया करते थे। क्या कारण है जो अब आप मेरी खबर तक नहीं लेते—जीता हूँ या मर गया।

मालूम हुआ है कि आप 'विशाल भारत' से किनाराकशी करके टीकमगढ़ चले गये। क्या कलकत्ते से सदा के लिए विदा हो आए? आशा है महाराजा साहब की छत्रच्छाया में आप सानन्द और सुखी होंगे—किसी बात की कमी न होगी, सांम्पत्तिक अवस्था भी अच्छी होगी।

महाराजा साहब ने बहुत यश, बहुत कीर्ति कमाई। उनका हिन्दी-प्रेम सर्वथा प्रशंसनीय है, अनेक ग्रन्थकारों, कवियों और हिन्दी-हितैषियों के विषय में वे द्वितीय कर्ण हो रहे हैं। ईश्वर करे वे दीर्घायु हों और उनका कल्याण हो। यह लिखते समय मुझे संस्कृत का एक श्लोक

याद आ रहा है। अर्क (मदार) की झाड़ी वर्षाऋतु से कहती है--

त्वयि वर्षति पर्जन्य सर्वे पल्लविता द्रुमाः।
अस्माकमर्कवृक्षाणां जीर्णपत्रेऽपि संशयः॥

मैं अब बहुत वृद्ध हो गया। कमजोरी बेहद बढ़ रही है। चलने में पैर लड़खड़ाते हैं। दृष्टि मन्द हो गई है। 'लीडर' अब अच्छी तरह नहीं पढ़ सकता। छटांक भर दलिया भी हजम नहीं होता। दूध पीकर और लौकी का जरा-सा साग खाकर जी रहा हूँ। देखूँ ये भोग कब तक भोगने पड़ेंगे।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी।

प्रेमचंदजी का पत्र

सरस्वती प्रेस, काशी
ता० ३-६-१९३०

प्रिय भाई साहब, बन्दे।

आपका पत्र कई दिनों से आया हुआ है। पहले तो कई बारातों में जाना पड़ा, फिर नैनीताल जाने की जरूरत पड़ गई। एक तारीख को वहाँ से आया तो यहाँ कांग्रेस के उलझन में पड़ा रहा। शहर पर फौज का कब्जा है। अमीनाबाद के दोनों पार्कों में सिपाही और गोरे डेरे डाले पड़े हुए हैं। १४४ धारा लगी हुई है। पुलिस लोगों को गिरफ्तार कर रही है और कांग्रेस १४४ धारा को तोड़ने की फिक्र में है। डंडे की नई पालिसी ने लोगों की हिम्मत तोड़ दी है।

आप मुझसे मेरा चित्र मांगते हैं। एक चित्र कुछ दिन हुए खिंचवाया था, वह लाहौर भेज दिया। वहां से ब्लाक मंगवा कर, कहानियों के एक सग्रह 'पांच फूल' में छापा। उसी की एक परत फाड़कर भेज रहा हूँ। अगर इससे काम चल जाय तो क्यों नई तस्वीर खिंचवाऊँ। मैं तो समझता हूँ यह काफी अच्छी है। अगर जरूरत होगी तो इसका ब्लाक भेज दूँगा, हालांकि ठीक नहीं कह सकता ब्लाक प्रेस में है या नहीं, क्योंकि 'वीणा' ने मांगा था। अगर वहां चला गया होगा तो वहां से आने पर भेज दूँगा। हां, अगर बिलकुल नई तस्वीर की दरकार हो तो मुझे तुरन्त लिखिए, खिंचवाकर भेज दूँगा।

मेरे विषय में आपने जो प्रश्न पूछे हैं उनका उत्तर यों है--

१. मैंने १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले १९०८ में मेरा 'सोज़ वतन' जो पाँच कहानियों का संग्रह है 'जमाना' प्रेस से निकला था, पर उसे हमीरपुर के कलक्टर ने मुझसे लेकर जलवा डाला था, उनके ख्याल में

वह विद्रोहात्मक था, हालांकि तब से उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं में निकल चुका है।

२. इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। २०० से ऊपर गल्पों में कहाँ तक चूनूँ। लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ —

१. बड़े घर की बेटी, २. रानी सारंधा, ३. नमक का दारोगा, ४. सौत ५. आभूषण, ६. प्रायश्चित, ७. कामना-तरु, ८. मंदिर और मस्जिद, ९. घासवाली १०. महातीर्थ, ११. सत्याग्रह, १२. लांछन १३. सती १४. लैला, १५. मेल।

'मंजिल मकसूद' नामक उर्दू कहानी बहुत सुन्दर है। कितने ही मुसलमान मित्रों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है, पर अभी तक उसका अनुवाद नहीं हो सका। अनुवाद में भाषा सारस्य गायब हो जायगा।

३. मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं० रतननाथ दर लखनवी और कुछ कुछ डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

४. आय की कुछ न पूछिये। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। प्रेम पच्चीसी, सेवा सदन, सप्त सरोज, प्रेमाश्रम, संग्राम आदिके लिए एक मुश्त ३०००) हिन्दी पुस्तक एजेंसी ने दिया। 'नव निधि' के लिए शायद अबतक २००) मिले हैं। 'रंग भूमि' के लिए १८००) दुलारे लाल ने दिए। और संग्रहों के लिए सौ दो सौ मिल गये। कायाकल्प, आजाद कथा, प्रेमतीर्थ, प्रेम प्रतिमा, प्रतिज्ञा मैंने खुद छापा, पर अभी तक मुश्किल से ६००) रुपये वसूल हुए हैं और प्रतियां पड़ी हुई हैं। फुटकर आमदनी लेखों से शायद २५) माहवार हो जाती हो, मगर इतनी भी नहीं होती। मैं अब 'हंस' और 'माधुरी' के सिवा कहीं लिखता ही नहीं। कभी कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' में लिखता हूँ। बस, उर्दू अनुवादों से भी अब तक शायद दो हजार से अधिक न मिला होगा। ८००) में रंगभूमि और प्रेमाश्रम दोनों का अनुवाद कर दिया था। कोई छापने वाला ही न मिलता था।

५ हिन्दी में गल्प साहित्य अभी अत्यन्त प्रारंभिक दशा में है। कहानी लिखनेवालों में सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र-कुमार, उग्र, प्रसाद, राजेश्वरी यही नजर आते हैं। मुझे जैनेन्द्र और उग्र में मौलिकता और बाहुल्य के चिन्ह मिलते हैं। प्रसादजी की कहानियाँ भावात्मक

होती हैं, realistic नहीं । राजेश्वरी अच्छा लिखते हैं मगर बहुत कम। सुदर्शन जी की रचनायें सुन्दर होती हैं पर गहराई नहीं होती और कौशिकजी अकसर बात को बेजरूरत बढ़ा देते हैं। किसीने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया। उग्र ने किया मगर बहक गये। मैंने कृषक समाज को लिया। मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े हैं जिनपर रोशनी की जरूरत है। साधुओं के समाज को किसीने स्पर्श तक नहीं किया। बात यह है कि अभी तक साहित्य को हम व्यवसाय के रूप में नहीं ग्रहण कर सकते। मेरा जीवन तो आर्थिक दृष्टि से असफल है और रहेगा। 'हंस' निकाल कर मैंने किताबों की बचत का भी बारा न्यारा कर दिया। आशा यह इस साल चार-पाँच सौ मिल जाते पर अब आशा नहीं।

६. मेरी रचनाओं का अनुवाद मराठी, गुजराती, उर्दू, तामिल भाषाओं में हुआ है। सबका नहीं। सबसे ज्यादा उर्दू में, उसके बाद मराठी में। तामिल और तेलगु के कई सज्जनों ने मुझसे आज्ञा माँगी जो मैंने दे दी। अनुवाद हुआ या नहीं मैं नहीं कह सकता। जापानी में तीन-चार कहानियों का अनुवाद हुआ है जिसके महाशय सावरवस ने मुझे अभी कई दिन हुए ५०) भेजे हैं, मैं उसका आभारी हूँ। दो तीन कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। बस।

७. मेरी आकांक्षायें कुछ नहीं हैं, इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की मुझे लालसा नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविश नहीं। हाँ यह जरूर चाहता हूँ कि दो चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, खुशामदी संतान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।

बस, आपके प्रश्नों का जवाब हो गया। मेरे जन्म आदि का ब्योरा आपके ही पत्र में छप चुका है। अब आप अपना वचन पूरा कीजिये और 'हंस' के लिये कुछ लिख भेजिये। वैसा ही स्केच हो जैसा प० सुन्दर लाल जी का था तो क्या कहना।

शेष कुशल है। आशा है आप भी सकुशल होंगे। भवदीय

—धनपतराय

हमें यह कहना है

सम्पादकीय

लीजिये, यह 'नई धारा'। मै इसके सम्बन्ध में क्या कहूँ? अपने तीस वर्षों के पत्रकार-जीवन की परिणति के रूप में इसे हिन्दी-संसार के समक्ष पेश करना चाहता हूँ। किन्तु, पहले अंक में ही कई स्थायी शीर्षक छूट गये; कई उपयोगी लेख छूट गये। समय और स्थान की खींचातानी। इनके बावजूद यह जो कुछ है, आप लोगों की सेवा में है। 'नई धारा' को साहित्य और संस्कृति की नवीनतम प्रवृत्तियों की प्रतिनिधि-पत्रिका बनाने की आकांक्षा है। 'नई धारा' के लिए यह सौभाग्य की बात है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कलाकार श्रीमान् राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी ने इसे अपनी साधन-सम्पन्नता की उर्वर भूमि से होकर प्रवाहित होने का सुअवसर दिया है। इसलिए, अर्थचिन्ता से यह मुक्त है और मैं भी इस बार बचा हुआ हूँ सम्पादक-जीवन के उस अभिशाप से जब वह एक ही साथ 'पीर, बबर्ची, भिश्ती, खर' बन जाता है। किन्तु कारूँ का खजाना भी किसी पत्र-पत्रिका को जीवित नहीं रख सकता, जब तक गुणग्राही जगत उसे दिल खोल कर नहीं अपनावे! क्या आशा करूँ, अब राष्ट्रभाषा हिन्दी के हितैषियों और सेवकों में गुणग्राहिता की कमी नहीं रह गई है?

× × × ×

अब, जब कि देश आजाद हो चुका है, यह स्वाभाविक है कि हमारा ध्यान राजनीति की ओर से हट कर धीरे-धीरे संस्कृति की ओर आकृष्ट हो। हमारे जीवन में अभी आर्थिक अड़चनें हैं--अपने देश, अपने समाज, समाज के व्यक्ति-व्यक्ति को धन-धान्य से पूरा किये बिना हम सम्यक् रूपेण संस्कृति की ओर ध्यान दे नहीं सकते--यह भी सही है कि अभी एक दूरी और तय करनी है। किन्तु, जीवन एकांगी नहीं है और वर्त्तमान के गर्भ में ही तो भविष्य छिपा रहता है, पलता है। अतः गेहूँ की दुनिया में फँसे होने पर भी हमें गुलाब की दुनिया को भूल नहीं जाना

है—शायद भूल भी नहीं सकते ! फिर बागबान का ध्यान फल पर हो; किन्तु मंजरी देखकर ही कोयल कूक उठती है। क्या समाज में कलाकार की स्थिति कोयल की नहीं है ? यही कारण है कि हमारे समूचे देश में, देश के कोने-कोने में इस समय संस्कृति—साहित्य और कला—के लिए एक अजीब उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा है ! हमारे राजनीतिक पुरुष गेहूँ की समस्या में ही उलझे हुए हैं; वहां हमने गुलाब के गीत के गुंजार से अन्तरिक्ष को भरना प्रारम्भ कर दिया है ! कह लीजिये, तुम स्वप्नदर्शी हो, हवाई महल के रहनेवाले हो— आप कभी-कभी हमें कायर, बुजदिल, पलयानवादी, रजतपसंद आदि शुभ नामों से भी सम्बोधित कर लेते हैं ! किन्तु इसका जवाब हम इसके अतिरिक्त और क्या दे सकते हैं कि आप अपने स्वभाव से लाचार हैं, तो हम अपनी तबीयत से भी कम मजबूर नहीं हैं ! हम गाते चलेंगे; आप गालियाँ देते रहिये। देखना है, कौन हारता है ?

×× ××

हां, मैं स्पष्ट कह दूँ, 'नई-धारा' द्वारा मैं गुलाब का गीत गाना चाहता हूँ ! हमें वादों और विवादों से कुछ लेना-देना नहीं है ! जीवन का उनसे सम्बन्ध है, गहरा सम्बन्ध है, मानता हूँ, जानता हूँ, देखता हूँ। उनसे दिलचस्पी भी है। किन्तु, क्या एक स्थान ऐसा नहीं हो सकता, जहां वाद-विवाद भूल कर हम मिलें, मिलायें; रस में भींगे, भिंगायें ? कलाकार भी धरती का प्राणी है—धरती के सुख-दुख उसे भी प्रभावित करते हैं। किन्तु, जिस तरह फुहारा सूर्य की किरणों का एक खास अन्दाज से विक्षेप पाकर इन्द्रधनुष बन जाता है; वही हालत इन सुख-दुखों की कलाकार-हृदय पर होती है ! जो सिर्फ बिन्दु-बिन्दु हैं, वे ही सतरंगी बन जाते हैं वहां ! भगवान के नाम पर उस सतरंगी पर कोई दूसरा रंग चढ़ाने की दया न कीजिये ! जरा गहरे देखिये, आंखों के पर्दे हटा कर देखिये—वहां वह सब कुछ है, जो धरती दे सकती है। उसे अपने ही रूप में, रंग में निखरने दीजिये। आइये, जब कभी इन वादों और विवादों से आपको थकावट मालूम हो, अवसाद का अनुभव हो, तो इस गुलाब की दुनिया में—रस की सतरंगी दुनिया में आ जाइये ! मेरा

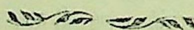
विश्वास है, हम आपको रंग और गंध ही नहीं देंगे, जीवन और ज्योति भी देंगे!

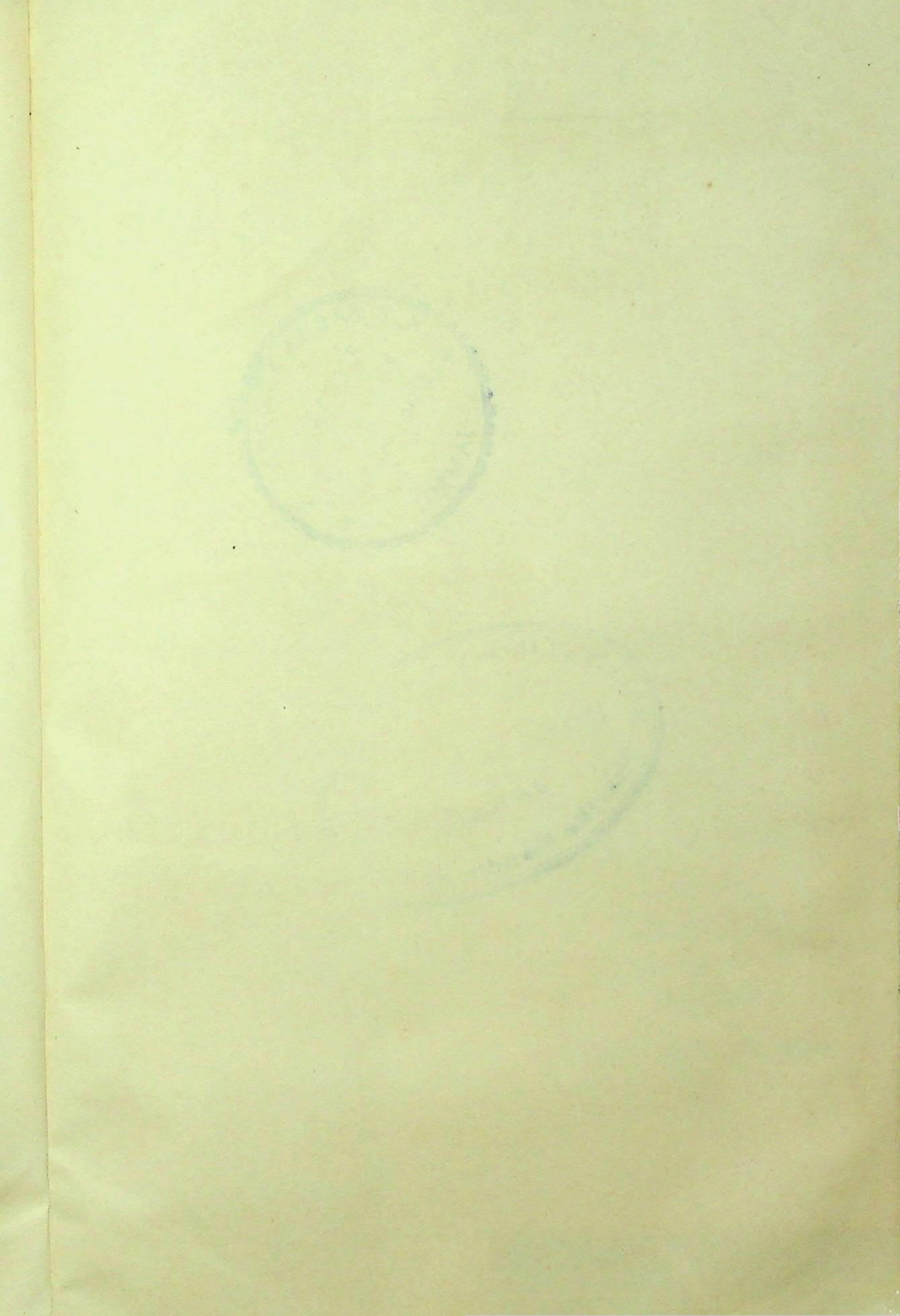
× ×　　　　× ×

गुलाब की दुनिया! यह क्या—कहीं मुर्झाहट; कहीं सकुचाहट! कोई कली संकोच में खिल नहीं रही—कोई फूल असमय मुर्झा रहा है। 'नई धारा' ऐसे फूलों पर से धूल झाड़ेगी; उनकी जड़ में जीवन डालेगी, उनके रेशे-रेशे में नये रस का संचार करेगी। और, कलियों को सहलायेगी, गुदगुदायेगी, उन्हें खिलने को, विकसित होने को उकसायेगी! वह चाहेगी कि दिगदिगन्त रंग और सुगंध से परिपूरित हो उठे! और, हाँ, जो बबूल के ठूँठे पेड़ इस पाक जमीन पर आ जमे हैं, उन्हें जड़मूल से उखाड़ कर ही दम लेगी। बहुत हुआ; बहुत! आपके काँटों के क़हर से यह दुनिया तबाह हो चली है! काश, आप जान पाते, आपके नुकीले बर्छों ने कितनी कोयलों के कलेजे छेदे हैं, आपकी इन खूसट जड़ों ने कितनों के जीवनाधार रस को चूसा है? सावधान, बबूलो! खुशियाँ मनाओ कलियो, फूलो!

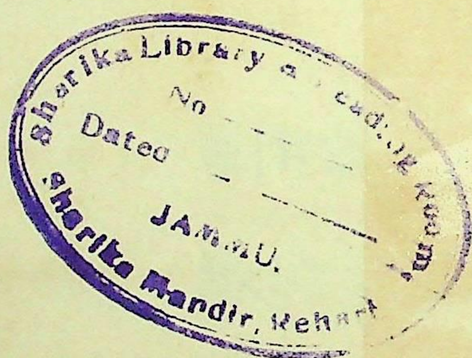
× ×　　　　× ×

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो चुकी। किन्तु छाती पर हाथ रख कर कहिए, क्या हमारा साहित्य इस पद के अनुरूप सभी अंगों से पूर्ण है? संतों की वाणी को ही बानगी में पेश करके हम कब तक सन्तोष करते रहेंगे? हमारी भूमि में कविता के पौदे आपसे आप पैदा होते हैं; खूब बढ़ते हैं! किन्तु यहां भी क्या जंगली घास का दृश्य नहीं है? और, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि का क्या हाल है? टेकनिक के खयाल से तो हम बहुत ही पिछड़े हुए हैं। बस लकीर पीटते जा रहे हैं। मालूम होता है, हमारे साहित्य-स्रष्टाओं में दम नहीं कि वे विद्रोही की तरह खम ठोक कर खड़े हो सकें! समाज को विद्रोही चाहिये, उससे अधिक विद्रोही चाहिए साहित्य को, कला को। 'नई धारा' ऐसे विद्रोहियों की वाणी कहकर जिस दिन बदनाम की जायगी; हमारी चरम सफलता का दिन तब होगा! वह दिन निकट आवे—यही आशीर्वाद दीजिये।






K. P. SABHA
LIBRARY
No
Date
JAMMU


Sharika Library
No
Dated
JAMMU.
Sharika Mandir,

अगले अंक में ढूँढ़िये

आचार्य शिवपूजन सहाय लिखित

वे दिन : वे लोग

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित

साहित्यिक निबंध

वायुयान पर छप्पन घंटे

(भ्रमण)

बाबूसाहब का हाथी

(शब्दचित्र)

भारतीय गणतंत्र का परम लक्ष्य

(राजनीति)

श्री जयप्रकाश नारायण से साहित्यिक

इन्टरव्यू

अश्क की कहानी

और

कवितायें—

महादेवी, निराला, पंत, दिनकर

आदि